पूज्य आचार्यश्री 108 आर्जवसागरजी महाराज

परमार्थ साधना

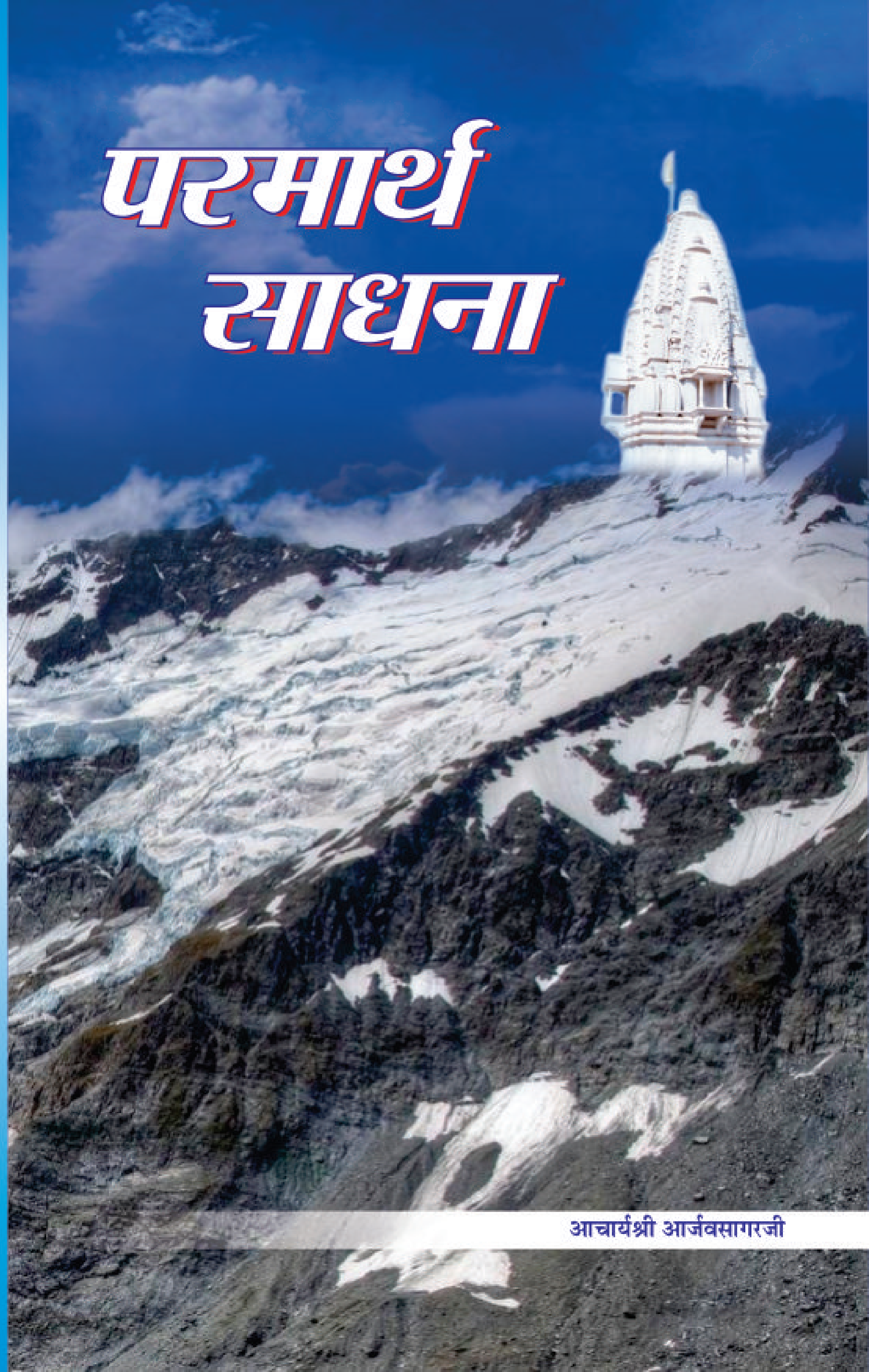

आचार्यश्री आर्जवसागरजी

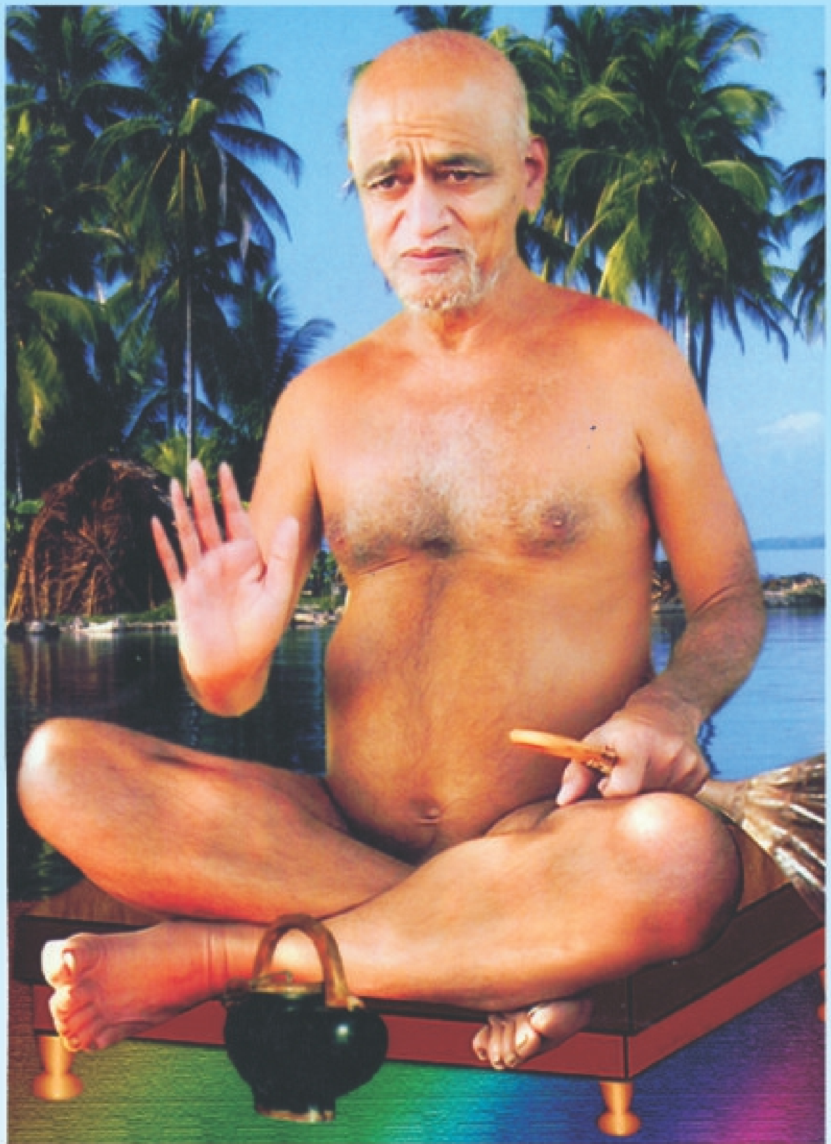

दिगम्बर सरोवर के राजहंस
आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज

मुनिश्री १०८ आर्जवसागर जी महाराज

जीवन परिचय

पूर्वनाम	-	पारस चन्द जैन,
पिताजी	-	श्री शिखर चन्द जैन
माताजी	-	श्रीमति माया बाई जैन
जन्म तिथि	-	11.09.1967 (भाद्र शुक्ल अष्टमी)
जन्म स्थल	-	फुटेरा कलाँ, दमोह (म.प्र.)
बचपन बीता	-	पथरिया जि. दमोह
शिक्षा	-	बी.ए. (प्रथम वर्ष) डिग्री कॉलेज (दमोह)
ब्रह्मचर्य व्रत	-	19.12.1984 अतिशय क्षेत्र पनागर (म.प्र.)
सातवीं प्रतिमा	-	1984 सिद्ध क्षेत्र अहारजी
क्षुल्लक दीक्षा	-	08.11.1985 सिद्ध क्षेत्र अहार जी
ऐलक दीक्षा	-	10.07.1987 अतिशय क्षेत्र थूबोन जी
मुनि दीक्षा	-	31.03.1988 महावीर जयन्ती, सिद्ध क्षेत्र सोनागिर जी
दीक्षा गुरु	-	आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज
आचार्य पद	-	25.01.2015 (माघ शुक्ल षष्ठी) (समाधि पूर्व आचार्य श्री सीमंधरसागर जी द्वारा)
कृतियाँ	-	धर्मभावना शतक, जैनागम संस्कार, तीर्थोदय काव्य, परमार्थ साधना, बचपन का संस्कार, सम्यक् ध्यान शतक, जैन धर्म में कर्म व्यवस्था, नेक जीवन, पर्यूषण पीयूष, साम्य भावना, आर्जव-वाणी, आर्जव कविताएँ।
पद्यानुवाद	-	गोम्मटेश थुदि, वारसाणुवेक्खा, इष्टोपदेश, समाधि तंत्र, द्रव्य संग्रह।

परमार्थ साधना

कृतिकार :
आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज के परम शिष्य
मुनिश्री १०८ आर्जवसागर जी महाराज

प्रकाशक :
भगवान महावीर आचरण संस्था समिति
एमआईजी- 8/4, गीतांजली काम्प्लैक्स,
भोपाल (म.प्र.)
फोन : 2673820, 9425601161, 9425011357

कृति	-	**परमार्थ साधना**
कृतिकार	-	मुनिश्री १०८ आर्जवसागर जी महाराज
संस्करण	-	चतुर्थ, 2013
प्रकाशन दिनांक	-	पावन वर्षायोग 2013, इंदौर
प्रतियां	-	1000
पुण्यार्जक	-	स्व. श्रीमती जानकीदेवी ध.प. स्व. श्री घासीराम जी जैन की स्मृति में श्रीमती सीतादेवी ध.प. श्री चैतन्य प्रकाश जैन की प्रेरणा से मनोज कुमार एवं अनोज कुमार, रामगंजमंडी, जिला-कोटा (राजस्थान)
प्राप्ति स्थान	-	भगवान महावीर आचरण संस्था समिति फोन : 2673820 मो. : 9425601161, 9425011357
मुद्रक	-	पारस प्रिन्टर्स, भोपाल फोन : 0755-4260034, 9826240876
मूल्य	-	स्वाध्याय (अद्योपान्त पढ़ने तक एक खाद्य वस्तु का त्याग करें)

विषय - सूची

क्र.	विवरण	पृ. क्रं.
1.	नारियल में मोक्षमार्ग	1
2.	भक्ति और मुक्ति	4
3.	धर्म का प्राण दया	11
4.	धर्म की महिमा	17
5.	पूजा से पूज्य	32
6.	पूजन की महिमा	38
7.	जगत हितंकर जैनधर्म	43
8.	संस्कार का प्रभाव	54
9.	ज्ञानामृत से आत्मिक तृप्ति	62
10.	आत्मिक दोषों का प्रक्षालन	66
11.	सादा जीवन उच्च विचार	68
12.	घड़े की शिक्षा	73
13.	आत्म परिचय	78
14.	ध्यान की प्रक्रिया	83

प्राक्कथन

भोपालवासियों का यह सौभाग्य है, जो उन्हें संत शिरोमणि आचार्य श्री 108विद्यासागर जी के पट्ट शिष्य मुनि श्री 108आर्जवसागर जी महाराज एवं क्षु. अर्पणसागर जी का चातुर्मास वर्ष 2004-05 में प्राप्त हुआ। इस अवधि में आपके सानिध्य में बागउमराव दुल्हा तथा अशोका गार्डन इन दो क्षेत्रों में पंचकल्याणक एवं गजरथ महोत्सव पूर्ण भव्यता के साथ निर्विघ्न सम्पन्न हुए। हम भोपालवासियों का यह पुण्य है जो हमें मुनि श्री के चातुर्मास के बाद पंचशील नगर में शीतकालीन **द्रव्य संग्रह** की वाचना एवं अशोका गार्डन में ग्रीष्मकालीन **इष्टोपदेश** की वाचना का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ।

महाराज श्री ने अपनी भोपाल साधना के मध्य स्थानीय मंदिरों में जैन पाठशालाएँ प्रारंभ कर बच्चों को संस्कारित करने के लिए महान पहल की और उसके अच्छे परिणाम सामने आए। अनेक बच्चों में एवं युवकों में जैन धर्म के प्रति अच्छा लगाव बढ़ा। वे नियम-संकल्पों के साथ जैन आगम के ज्ञान के लिए अग्रसर हुए। जैन धर्म के अनेक लघु ग्रन्थ-इष्टोपदेश, द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, छहढाला का पठन-पाठन किया तथा अनेक स्तुतियाँ उन्हें कंठस्थ हुईं, उनमें से कई बच्चे भक्तामर जैसे अनुपम भक्ति स्तोत्र को भी सस्वर गाकर याद करने लगे।

मुनिश्री ने अपने साधनाकाल में जो अनेक पुस्तकों हेतु आशीर्वचन रूप में कुछ आध्यात्मिक लेख लिखे थे अथवा लोगों ने जो मुनिश्री के प्रवचनांश संग्रहीत किए थे, भोपाल समाज ने उन अपूर्व एवं महत्वपूर्ण 13 विषयों को एक पुस्तिकाकार रूप देने का निर्णय लिया और वही 'परमार्थ साधना' के रूप में आपके हाथ में है। प्रस्तुत कृति की विषय वस्तु सच्ची साधना या मोक्ष पुरुषार्थ की साधना है।

इसमें संकलित महाराज श्री के 13 विषयों में सर्वप्रथम है 'नारियल में मोक्षमार्ग' इससे शिक्षा मिलती है जैसे नारियल वृक्ष से अलग हो जाता है उसी प्रकार व्यक्ति मोक्षमार्ग की दिशा में अग्रसर होने की ओर पहल कर समाज व परिवार से विलग हो जाता है। नारियल की जटाएँ पृथक करना केशलोंच का प्रतीक है। नारियल के तीन छेद रत्नत्रय के प्रतीक हैं। इसी तरह पुस्तक में संकलित प्रत्येक विषय से हमें कुछ-न-

कुछ सदुपदेश अथवा शिक्षा अवश्य मिलती है। भक्ति में अपार शक्ति है, जो भक्त को प्रत्येक संकट से बचा लेती है।

आचार्य मानतुंग ने 48तालों में बंद कोठरियों में भक्तिपूर्वक भगवान् आदिनाथ की स्तुति प्रारंभ कर 48काव्यों की रचना की तो वे स्वयमेव 48कोठरियों से निकलकर स्वतंत्र हो गए इसी तरह समन्तभद्राचार्य के स्वयंभू स्तोत्र के पठन के समय जिनबिम्ब उनके समक्ष प्रकट हो गया। यह है निश्चल भक्ति का प्रताप। सच्ची भक्ति के द्वारा ही वह मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। इसी क्रम में आगे धर्म का प्राण-दया, धर्म की महिमा, पूजा से पूज्य से लेकर अंतिम लेख 'आत्म परिचय' जिसके चिन्तवन से नि:सन्देह असार संसार को त्यागने का भाव हममें जगाते हैं।

इसमें संकलित प्रत्येक लेख की भाषा सरल व सहज बोधगम्य हिन्दी है, यह परमार्थ साधना पुस्तक ''गागर में सागर'' वाली युक्ति चरितार्थ करती है। पाठकगण इस श्रेष्ठ कृति को पढ़कर अपनी भावना व साधना को अवश्य बढ़ाएंगे ऐसी मंगल भावना करता हुआ अन्तिम भावना है 'जैनं जयतु शासनं'

भोपाल जून, 2005

निर्ग्रन्थ गुरुभक्त

डॉ. विमलचन्द जैन

एलआईजी-236, कोटरा सुल्तानाबाद,

भोपाल

फोन : 2774499

नारियल में मोक्ष मार्ग

मुनियों का जीवन मोक्षमार्ग से जुड़ा हुआ होता है। और भी कोई भव्य अगर मोक्षमार्ग पर चलने को उत्सुक हो, तो उसे भी राह दिखाते हैं। इसी अवसर पर मुझे एक उदाहरण याद आया जिसके द्वारा आप लोग संक्षेप में सम्पूर्ण मोक्षमार्ग को समझ सकते हैं। कोई एक व्यक्ति भूमि को साफ-सुथरा करके पानी का सिंचन करके एक बीज बोता है, खाद-पानी और बाड़ लगाकर उसको सुरक्षित रखता है, एक दिन वह पौधा पेड़ बनकर फलित होता है। जब उसे तोड़ते हैं तो वह भी मीठा-मीठा पानी देता है, जो ग्लुकोज का काम करता है, शक्तिवर्द्धक होता है। कभी कुछ खाने को भी मिलता है। उस वृक्ष से बड़े परोपकार का उपदेश हमें प्राप्त होता है: ''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' इस सूत्र को चरितार्थ करता है। किसी ने पानी दिया था, उसने भी उसे पानी दिया और अपनी जिन्दगी भर भी देता रहता है, कोई पत्थर भी मारे तो फल ही देता है। जैसे कि कहा गया है-

परोपकाराय फलन्ति वृक्षा:परोपकाराय वहन्ति नद्या:।
परोपकाराय दुहन्ति गावा: परोपकाराय सुतांप्रसूति:॥

जिस प्रकार परोपकार के लिए वृक्ष फल देते हैं, परोपकार के लिए नदियाँ बहती हैं, परोपकार के लिए गाय दूध देती है, इसी प्रकार परोपकार के लिए माँ बेटे को जन्म देती है। इस प्रकार परोपकार करना प्रत्येक मानव का धर्म है। यह हमें उपदेश उस नारियल के वृक्ष से मिला। यह तो हुई नारियल के अपने वृक्ष रूपी परिवार की बात। अब कहता हूँ कि जब वह नारियल सूख करके स्वत: ही वृक्ष को छोड़कर नीचे आता है, उससे यह उपदेश मिलता है कि जो भव्य अपने परिवार से मोह, लगाव रूप सम्बंध तोड़ देता है वह सद्गुरु के चरणों में आ जाता है। इसके बाद जब उस फल को उपयोग में लाना हो, तो उसके ऊपर का सूखा पीला कवच (छिलका) निकाला जाता है, जिससे समझें कि मोक्षमार्ग में गुरु के समीप आकर भव्य दीक्षा धारण करने हेतु पहले वस्त्रों का मोचन करता है। इसके बाद जैसे नारियल की जटा उखाड़ी जाती है, वैसे ही भव्य केशलोंच करता है। जटा-जूट निकल जाने के बाद जिस प्रकार उस फल में तीन चिह्नों का दर्शन होता है, उसी तरह पूर्ण परिग्रहरहित और केशलोंच के बाद साधु में रत्नत्रय के दर्शन होते हैं। उन तीन चिह्नों को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का

प्रतीक मानना चाहिए। ये तीन दिखते हैं तो क्या हैं? आँखें? आँखें नहीं बोलना चाहिए। किसी ने कहा था कि जब अजैन लोग किसी रागी देवी-देवताओं के सामने पशुओं की बलि देते थे और जब उन्हें किसी समय पशु नहीं मिलते थे, तब वे नारियल की जटा उखाड़कर उसमें दिखने वाले तीन चिह्नों में से दो को आँखें एवं एक मुँह मानकर एक पशु की बलि रूप में उसे उन देवी-देवताओं के सामने शस्त्र से काट देते थे और आधा नारियल वहाँ चढ़ाकर आधा घर ले जाते थे। इस प्रकार उस परम्परा को रूढ़िरूप से दक्षिण के लोग अपनाते रहे, लेकिन इसका रहस्य समझने वाले लोग बलि के पाप से बचने हेतु कभी भी नारियल को देवता के सामने नहीं काटते और न ही आधा समर्पित करते तथा ना ही आधा वापस घर ले जाते थे।

'मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति' बोलकर श्रीफल पूरा-पूरा ही चढ़ाया जाता है, जिससे कि पूरा-पूरा ही मोक्ष मिल सके। अगर कोई नारियल को फोड़कर आधा चढ़ाए तो आधा ही मोक्ष मिलेगा, कहीं बीच में ही लटक जाएगा। इतना ही नहीं नारियल फोड़कर चढ़ाने से बलि प्रथा का भी समर्थन होता है तथा आधा घर ले जाने से निर्माल्य खाने का भी दोष लगता है। इसके बाद सूखा हुआ वह फल बजाने से खट-खट बजता है। मानो यह उपदेश देता है कि निर्ग्रन्थ अवस्था प्राप्त होने पर साधु को भेद विज्ञान अनुभव में आता है। इसलिये तो उन्हें सभी परीषह और उपसर्ग सहज रूप से समतापूर्वक सहन करने में आ जाते हैं। इसके बाद वह फल ऊपर से इतना कठोर और देखने में मटमैला होता है कि लोगों को अच्छा नहीं लगता। लेकिन अंदर स्वच्छ सफेद और मुलायम होता है। वह कहता है कि मुझे जो तुम ऊपर से देख रहो हो, वही मात्र मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है। वास्तविक स्वरूप तो अंदर देखने पर ही मालूम पड़ता है, इसलिये तो हमारा बाहरी नाम नारियल अर्थात् बाहर से मैं नो-रियल हूँ अन्दर में ओरिजनल हूँ, इसलिए मेरा नारियल नाम भी सार्थक है। इसी तरह साधु लोग ऊपर से किसी पाप, पाखण्ड, मिथ्यात्व, रूढ़िवाद आदि का खण्डन करते हुए कठोर से प्रतीत होते हैं। अस्नान व्रत होने से कभी उनका रंग अच्छा सा प्रतीत न हो, मैला-कुचैला-सा लगे, तो अंदर में वे भावों से बहुत नरम, सबके हितकर्ता और स्वभाव से बहुत कोमल होते हैं। इसके बाद जब उस नारियल की खोपड़ी को तोड़ा जाता है, तब अन्दर गोल भेला के दर्शन होते हैं, उसी तरह जब साधु अपने शुक्ल ध्यान से मोहनीय कर्म का नाश करते हैं, तब परम वीतरागी कहलाते हैं। नारियल की खोपड़ी की कठोरता बतलाती है

कि मोहनीय कर्म बड़ा कठोर होता है और जिसके जाने पर अन्य कर्मों का जाना बहुत सहज हो जाता है। इसके बाद जैसे भेले के ऊपर का छिलका धीरे-धीरे निकाला जाता है, तब धवल भेला निकलता है। वैसे ही साधु लोग क्रमशः ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय करते हैं, तब कैवल्य की प्राप्ति करके अर्हन्त पद पाते हैं। वह अर्हन्त अवस्था एक धवल भेले के समान समझना चाहिए। अभी नारियल पूर्ण शुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है, अभी उसमें और कुछ अशुद्धता बाकी है, लेकिन जब उसे भेले से तेल निकाला जाता है तब वह पूर्ण शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। इसी तरह केवलज्ञानी की अर्हन्त अवस्था पूर्ण शुद्ध नहीं मानी जाती, क्योंकि तब तक अघातिया कर्म उनकी आत्मा में बैठे रहते हैं। जब श्रेष्ठ शुक्ल ध्यान द्वारा अघातिया कर्मों का भी नाश कर दिया जाता है, तभी तेल के समान पूर्ण शुद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं। अब देखो वह तेल अगर एक दूध भरे बर्तन में डाला जाए, तब वह तेल नीचे दब जाएगा क्या? अथवा ऊपर आएगा? ठीक है ऊपर आएगा न तो कहाँ तक ऊपर आएगा? जहाँ तक दूध है, उसके ऊपर तो नहीं जाएगा क्योंकि उसे भी सहारा, साधन चाहिए। इसी तरह अघातिया कर्म दूर होने के उपरांत वे सिद्ध परमेष्ठी कहाँ जाते हैं? ऊपर की ओर जाते हैं। कहाँ रुक जाते हैं? सिद्धशिला पर रुक जाते हैं। उसके ऊपर क्यों नहीं जाते? उनके पास तो अनन्त शक्ति है, फिर और भी ऊपर जाना चाहिए। अनन्त आकाश पड़ा है, जाते ही रहना चाहिए, उनको रोकने वाला कौन? तो आप बोलेंगे ''धर्मास्तिकायाभावात्'' धर्मास्तिकाय का अभाव है इसलिए ऊपर नहीं जा पाते, तो मैं पूछता हूँ कि एक अनंत शक्ति के धारक सिद्ध परमात्मा को भी परद्रव्य के आलम्बन की आवश्यकता पड़ी। इसका मतलब कि बिना निमित्त के उनका भी काम नहीं चल सकता। धर्मास्तिकाय निमित्त के बिना वे परमेष्ठी ऊपर नहीं जा पाए, और हम-तुम लोग निमित्त की उपेक्षा करें, तो हमारा जीवन कैसे चलेगा? सम्यग्दर्शन से लेकर मोक्ष तक निमित्त भी उपादान के साथ-साथ काम करता रहता है, अतः अनेकांत को समझने वाले लोगों को कभी निमित्त को छोड़ने की बात नहीं करना चाहिए। आप लोगों को उपादान में कुछ तो हमारे चातुर्मास रूपी निमित्त की आवश्यकता रही होगी, इसलिए तो आप लोगों ने नारियल चढ़ाकर चातुर्मास का निवेदन किया। यह नारियल श्रीफल भी कहलाता है, श्री का अर्थ लक्ष्मी होता है, जो मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करे उसे श्रीफल कहते हैं। वैसे लक्ष्मी तीन प्रकार की होती है- पहली अंतरंग लक्ष्मी अर्थात् अनन्त चतुष्टय, दूसरी बहिरंग लक्ष्मी-

समवशरण आदि विभूति और तीसरी है मोक्ष लक्ष्मी। इन तीनों की पूजा, उपासना करनी चाहिए, अन्य किसी सरागी की नहीं। नारियल जब चढ़ाते हैं तब उसकी चोटी ऊपर की ओर रखते हैं। इससे वह सिद्धशिला जाने की भावना प्रगट करता है। इसलिए उसका श्रीफल भी नाम सार्थक है। इस प्रकार हम लोगों ने एक नारियल या श्रीफल के उदाहरण से मोक्षमार्ग को समझ लिया। यह शार्ट एण्ड स्वीट उदाहरण देने मात्र से आपका काम चल जाएगा। अब हम चातुर्मास में मौन बैठ सकते हैं। लेकिन आप लोगों के संकेत से मालूम पड़ा कि आप बहुत कुछ सुनना चाहते हैं। मैं रोज सुबह-शाम सुना सकता हूँ, आपके बंधन में बंधकर नहीं अपने व्रतों के बंधन को मुख्यता देते हुए शास्त्र सुनाऊँगा। इस श्रीफल की ही यात्रा को विस्तृत करके सुनाऊँगा, जिससे आप लोगों को शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष की प्राप्ति हो सके।

त्याग के बिना आत्मवैभव कहाँ

सांसारिक वैभव के त्याग के बिना, आत्मवैभव की प्राप्ति नहीं हो सकती। तुम आत्म वैभव की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो, तभी कल्याण होगा। तीर्थंकरों ने धन-वैभव का त्याग व दिगम्बर अवस्था धारण कर निर्वाण महापद को प्राप्त किया। धर्म के पास अनूठी सांस्कृतिक विरासत है। जैन धर्म में दर्शन ही नहीं, विज्ञान व भूगोल आदि विषयों के गूढ़ रहस्य भी छुपे हुए हैं। विज्ञान व अंतरिक्ष विज्ञान में होनेवाली खोजों के मूल रहस्य और प्रेरणा जैन ग्रंथों पर आधारित हैं। इसलिए हम सभी को संकल्पपूर्वक जैन धर्म के शास्त्र व इसके तीर्थों की रक्षा के लिए सतत् कृतसंकल्प रहना चाहिए।

भक्ति और मुक्ति

हमारे जिन शासन में रत्नत्रय को मुक्ति का मार्ग बतलाने वाला ''सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणिमोक्ष मार्गः'' (त.सू.) यह आगम का सूत्र भव्यों को मोक्ष मार्ग दर्शाता है। इस सूत्र से मोक्ष प्राप्ति के लिए रत्नत्रय की अनिवार्यता सिद्ध होती है और रत्नत्रय में सारा जैनाचार गर्भित-समाहित है। रत्नत्रय को समझाने के लिए तत्त्वार्थ सूत्र से भी पूर्व पठनीय रत्नकरण्डक श्रावकाचार आद्य कुञ्जी है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने आज से दो हजार वर्ष पहले अनेकान्त-स्याद्वाद और समीचीन धर्म का डंका बजाते हुए, सारे भारत में अहिंसा का शंखनाद करते हुए जैन धर्म की अपूर्व प्रभावना की थी।

ऐसे आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अधिकतर ग्रन्थ स्तुतिपरक लिखे हैं और जिन ग्रन्थों में अनेकान्तमय कर्म सिद्धान्त का रहस्य उद्घाटित होता है। उनके समीचीन ये धार्मिक वचन भव्यों को विषय वासनाओं से हटाकर जीवों के कर्त्तव्यों का ध्यान दिलाते हुए स्वयमेव वीतरागी के चरणों में जाने को प्रेरित करते हैं तथा समीचीन भक्ति से मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। जैसे कि उन्होंने एक जगह वीतरागी का स्वरूप और भक्ति की महिमा के बारे में कहा है कि-

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः, पुनातु चित्तं दुरितांजनेभ्यः॥ 5॥

(स्वयंभूस्तोत्र)

अर्थ- हे भगवन्! पूजा वन्दना से आपको कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि आप वीतरागी हैं। इसी तरह निन्दा से भी आपको कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि आपकी आत्मा से बैर-भाव (द्वेषांश) बिल्कुल निकल गया है। फिर भी आपके पुण्य गुणों का स्मरण लोगों के चित्त (मन) को पाप मलों से दूर कर पवित्र करता है।

जिस प्रकार टेप रिकार्ड में आवाज को केसिट में टेप करते समय हमारी आँखों में नहीं दिखने वाली आवाज मधुर हो या कठोर, सुन्दर हो या असुन्दर केच होकर टेप हो जाती है और जब (रिवर्स करके) सुनते हैं तब संसारी लोगों को वह आवाज सुख-दुःख का अनुभव कराती है। समझ लीजिए इसी तरह आत्मा भी एक टेप रिकार्ड सदृश हैं जिसमें जब तक कार्मण शरीर रूपी केसिट है तब तक धर्म-अधर्ममय भावों द्वारा आँखों में नहीं दिखने वाली कार्मण वर्गणाएं ज्ञानावरणादि कर्म के रूप में आत्मा के

भीतर टेप होती (बंधती) चली जाती हैं।

अत: आत्मा में सदा काल कर्मों का सम्पादन जारी है। किसी समय शुभ और किसी समय अशुभ। आत्मा का जिस समय धर्म में उपयोग होता है उस समय आत्मा में शुभ या पुण्य कर्म का संपादन होता है और किसी समय अधर्म या पंच पापों में उपयोग होने से अशुभ या पाप कर्म का संपादन होता है। शुभ कर्म का फल सुख-शान्ति है एवं अशुभ कर्म का फल दु:ख-अशांति है।

''जो जैसा बोता है वैसा पाता है'' यह कहावत चरितार्थ है। अत: आत्मा रूपी भूमि में समीचीन श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक धर्म का बीज बोने से आत्मा चाहे किसी भी गति में हो सुखी नजर आती है।

जिस प्रकार मुनियों के चारित्र में भिन्न-भिन्न षट् आवश्यक आदि धार्मिक कार्य बतलाए गए हैं उसी तरह श्रावकों के लिए दान, पूजा, शील और उपवास आदि धर्म कार्य बतलाए गए हैं। जिसका कारण यह है कि किसी एक-न-एक धर्म में उनका मन स्थिर बना रहे तथा आत्मा पाप कर्म के आस्रव से दूर बनी रहे।

आज पञ्चेन्द्रियों के विषयों की ज्वाला में जल रहे प्राणी को भगवान के या पञ्च परमेष्ठी के गुणगान रूप भक्ति, स्तुति और पूजा ही, जो शान्ति देने वाले अमृत के समान है, संतृप्त कर सकती है। क्योंकि मानव की जीवन रूपी नैया में अनेक पाप रूपी छिद्रों से संसार रूपी सागर में डुबोने वाला जल भरता जा रहा है, उसे रोकने वाला यह वीतराग धर्म ही एक अवलम्बन है जो धर्म, संसार समुद्र से पार कराने में समर्थ साधन है।

पाँच पापों से हमेशा गृहस्थ की आत्मा मैली-कुचैली बनती रहती है और उन पापों के न धोए जाने से वह दु:खों के सागर में डूब जाती है इसलिए बुद्धिमान लोग वस्त्रों को साफ करने जैसा दान, पूजा आदि उत्तम धर्मों से नित्य अपनी आत्मा का मैल धोते रहते हैं। जिस कारण अशुभ (पाप) कर्म का भार न बढ़ने से धर्म ध्यान से कराए गए पुण्य द्वारा भावी जीवन में मोक्ष के साधन रूप उत्तम कुल निरोगता और आयतनों के समागम को प्राप्त करते रहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से मानव धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ को छोड़कर बाकी पुरुषार्थों में अपना सारा समय गवां देता है। लेकिन धर्म पुरुषार्थ की ओर दृष्टिपात नहीं करता इसका कारण पूर्व जन्म के संस्कार के साथ-साथ इस जन्म के पारिवारिक जीवन या अपने पुरुषार्थ की कमजोरी समझना चाहिए। जैसे मंद भूख वाला व्यक्ति जब भोजन के पास जाता है तब भोजन की गन्ध या रूप आदिक के सम्पर्क से भूख खुलने लग जाती है उसी तरह जन्मों-जन्मों से धर्म से

दूर हुआ व्यक्ति जिसकी धर्म की भूख अति मंद या समाप्त-सी हो गई है वह अगर धर्म के क्षेत्र में आकर उनके अनेक साधनों पञ्च कल्याणक पूजा, समवशरण जैसी विभूति और सद्भक्ति स्तुति आदि को सुनकर देखकर वैषयिक सुखों को, जो कि दु:ख प्राप्ति के कारण हैं, स्वयमेव छोड़ देता है।

हमारे जैनाचार्य विद्वानों ने स्तुति पूजाओं और भक्तियों में सारे अनेकान्त मय सिद्धान्त को भर दिया है। जिसके समन्तभद्राचार्य द्वारा विरचित स्वयंभूस्तोत्र, जिन शतक आदि मानतुंगाचार्य द्वारा विरचित भक्तामर स्तोत्र, कुमुदचन्द्रचार्य विरचित कल्याण मंदिर स्तोत्र और वादिराज सूरि विरचित एकीभाव स्तोत्र आदि अतिशय से युक्त अच्छे उदाहरण हैं। जिन्हें पढ़कर भव्य वीतरागी की भक्ति में जैन धर्म के हृदय को छूता हुआ इतना तन्मय हो जाता है कि उसे पञ्चेन्द्रिय के विषय याद भी नहीं आते। भक्ति के द्वारा अनेक प्रकार के पाप, विघ्न स्वयमेव दूर जो जाते हैं, आचार्य पूज्य पाद स्वामि ने भी भक्ति पूजा की महिमा बतलाते हुए कहा है कि-

जन्म-जन्म कृतं पापं जन्म कोटिमुपार्जितं।
जन्म मृत्यु जरा रोगं हन्यते जिन वन्दनात्॥ 5॥
विघ्नौघ:प्रलयं यान्ति, शाकिनी भूत पन्नगा:।
विषं निर्विषतां याति, स्तूय माने जिनेश्वरे॥ 9॥

(समाधि भक्ति)

अर्थात्- जन्म-जन्म के किए गए पाप, करोड़ों जन्मों से उपार्जित पाप जन्म-मरण, बुढ़ापा और रोग; जिनेन्द्र भगवान की वन्दना (स्तुति, पूजा) से नाश को प्राप्त हो जाते हैं। इसी तरह शाकिनी, भूत और सर्प आदि के द्वारा किए गए विघ्न जिनेश्वर भगवान की स्तुति करने से दूर भाग जाते हैं। और यहाँ तक कि उस भगवत् भक्ति से विष भी निर्विषता को प्राप्त हो जाता है। हमारे आचार्यों ने भक्ति करने वाले जिनधर्मी भक्त को अपने कदमों को सम्हालने हेतु अर्थात् मिथ्या भक्ति या मिथ्यात्व से बचने के लिए बार-बार संकेत भी किया है कि कहीं वह भक्त देव मूढ़ता या वैनयिक मिथ्यात्व में फँसकर और कांक्षावान बनकर अपने सम्यक्त्व वैभव को न खो दे। जैसा कि आचार्य कुन्द-कुन्द देव ने कहा है कि-

असंजमो न वन्दे ....॥26॥ **(दर्शन पाहुड)**

अर्थात्-असंयमी वन्दनीय नहीं। आगमानुसार सभी प्रकार के (चारों निकाय के) देव और अणुव्रतादिक से रहित मनुष्य आदि असंयमी कहलाते हैं। और भी कहा है कि-

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजदं वंदं।
मण्णइ मिच्छादिट्ठि ण हु मण्णइ सुद्ध सम्मत्ती॥ 93।।

-(मोक्ष पाहुड)

अर्थात्-परिग्रह (धन, वस्त्र आदिक) की अपेक्षा आशा से सहित लिंग कुगुरु, रागी देव, और असंयमी (अव्रती) को जो वंदनीय मानता है वह मिथ्यादृष्टि है शुद्ध सम्यक्त्वी नहीं, शुद्ध सम्यक्त्वी कुगुरु, रागी देव और असंयमी को वंदनीय नहीं मानता।

जिनालय एक समवसरण का स्मृति चिह्न है। समवसरण में धर्म श्रवण के उद्देश्य से मुनियों, राजाओं, देव, देवियों और तिर्यञ्चों आदि की सभाएं हुआ करती हैं। लेकिन भगवान के समीप केवल चौंसठ चामर ढोरने वाले यक्ष ही होते हैं जिनका स्वरूप आगम में पूज्य पाद आचार्य द्वारा इस प्रकार कहा गया है-

कटक कटिसूत्र कुण्डल केयूर प्रभृति भूषितांगौ स्वंगौ।
यक्षौ कमल दलाक्षौ परिनिक्षिपतः सलील चामर युग्लम्॥ 7।।

-(नन्दीश्वर-भक्ति)

अर्थात्-वलय, मेखला, कर्णाभरण और बाहुबंद आदि आभूषणों से भूषित सुन्दर शरीर वाले कमल की कलिका की तरह नेत्र वाले दो यक्ष लीलापूर्वक (भगवान के दोनों ओर) चामर ढोरते रहे हैं।

अगर जिनालयों में भगवान के अलावा राजाओं व तिर्यञ्चादिक गणों की सभाएं नहीं है तो चामरधारी यक्ष पर्याप्त हैं और इनके अलावा अन्य देव-देवियों को बिठाना आवश्यक नहीं है। बिठाना ही हो तो पूरा समवसरण बनाकर सभी बारह सभाओं को बिठाना सबसे उत्तम है एवं समवसरण में देव-देवियाँ अपनी धर्म सभा में भगवान के दर्शन या दिव्य ध्वनि प्राप्त करने हेतु विनीत होकर बैठते हैं न कि आशीर्वाद की मुद्रा में। अतः ज्ञानियों को हजार पाँच सौ वर्ष के रूढ़िवाद की ओर न ध्यान देते हुए चतुर्थ काल के उस समवसरण को आगमानुसार याद करना चाहिए।

कर्म सिद्धान्त से अनभिज्ञ पंचम काल के कुछ लोग अपनी रक्षा के लिए तरह-तरह के देवों की शरण ढूंढते हैं जिन्हें लक्ष्य में रखकर पूज्यपाद स्वामि ने कहा है कि-

नहि त्राता नहि त्राता, नहि त्राता जगत्रये।
वीतरागात् परो देवो, न भूतो न भविष्यति॥ 16।।

-(समाधि भक्ति)

अर्थात्-तीनों लोकों में जीवों की रक्षा करने वाला वीतराग देव से उत्कृष्ट या दूसरा कोई देव न तो हुआ है और न होगा।

अनादिनिधिन णमोकार महामंत्र में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और निर्ग्रन्थ साधु इन पाँच को ही नमस्कार किया गया है न कि कोई छठवें को। इसी तरह चत्तारि मंगल पाठ में अरहंत, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत धर्म अर्थात् जिनवाणी यही चार मंगल कहे गए हैं तथा यही चार उत्तम एवं यही चार शरण बतलाए गए हैं। इनके अलावा 'अन्यथा शरणं नास्ति' कहकर आचार्यों ने हमें मिथ्या शरण से बचाया है। जिसे ध्यान में रखकर हम सभी अपनी नमस्कार विनय पूजादि क्रिया को समीचीन बनाएं यही हमारा परम् कर्त्तव्य है।

सम्यग्दर्शन से सहित होकर वीतरागी की की गई भक्ति पूजा नियम से संसार क्षय का कारण होती है। तथा उस सम्यग्दर्शन के माध्यम से ही हमारे ज्ञान और आचरण (चारित्र) समीचीन कहलाते हैं एवं सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की समष्टि का नाम ही मोक्ष मार्ग है।

गृहस्थ नित्य पूजा भक्ति करता हुआ भी विशेष पर्व जैसे सोलह कारण, दशलक्षण और अष्टाह्निक आदिक में अपने आरंभ, समारम्भ के कार्यों को संकुचित करता हुआ विषयासक्ति को कम कर विशेष धर्म ध्यान में रत होता है, जिस पावन अवसर पर बहु कर्मों की निर्जरा के साथ-साथ तीर्थंकर प्रकृति जैसे पुण्यों की भी प्राप्ति कर लेता है।

पूजा दो प्रकार की होती है एक द्रव्य पूजा और दूसरी भाव पूजा। अनगारी निर्ग्रन्थ मुनि भक्ति स्तुति रूप भाव पूजा करते हैं और गृहस्थ भाव सहित द्रव्य पूजा करते हैं। द्रव्य का अर्थ यहाँ शुद्ध प्रासुक जलादिक द्रव्य समझना चाहिए।

जैसे गृहस्थ पंच पाप या संसार के त्यागी साधुओं की वैयावृत्ति शुद्ध प्रासुक (त्रस, स्थावर जीवों से रहित) द्रव्यों से करता है उसी तरह उन साधुओं से भी पूज्य श्रेष्ठ उन वीतराग भगवान की वैयावृत्त रूप पूजा भी प्रासुक द्रव्यों से कवलाहारादिक दोषारोपण को दूर करता हुआ करता है, न कि उन वीतरागी प्रभु को जन्म कल्याणक के समय के बालक के समान समझकर सचित्त द्रव्यों से पूजने लग जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी प्रकार की आकांक्षाओं को लेकर भगवान की पूजा अर्चा नहीं करता, उसकी भावना केवल संसार दुःख से छूटकर मोक्ष प्राप्त करने की होती

है। इसके अलावा कभी भी वह धन वैभव और पुत्रादिक की प्राप्ति की स्वार्थमय भावना नहीं रखता। क्योंकि वह पुण्य-पाप के फल रूप कर्म सिद्धान्त को समझने वाला होता है।

वीतराग भगवान किसी को कुछ देते नहीं और न लेते हैं, भगवान एक भक्त की कर्म निर्जरा एवं पुण्य संपादन में निमित्त मात्र हैं। भक्त जिस प्रकार की भावना भाता है वह अपने भावों के द्वारा उस प्रकार के (शुभाशुभ) कर्मों को बाँध लेता है। पंच परमेष्ठी के उत्तम वीतराग मय गुणों का गान करने से वह असंख्यात कर्मों की निर्जरा के साथ-साथ अतिशय पुण्य का संपादन करता है जिस कारण मोक्ष जाने के बीच रास्ते में बिना चाहे अनेक प्रकार की फसल के बीच या साथ-साथ घास-फूस उत्पत्ति (प्राप्ति) के समान सांसारिक सुख-सामग्री को प्राप्त करता हुआ वैरागी बन एक दिन मोक्ष सुख का भाजक होता है।

अत: इस जग में विषयों की बहुलता में जो चंचलमना मानव हमेशा विषयों का दास बना हुआ पाप कर्म के संपादन में लगा हुआ है, उस पाप कर्म के आस्रव बंध से बचने हेतु रत्नत्रय या रत्नत्रयधारी वीतरागी की भक्ति अति उत्तम साधन है, जिस भक्ति से मानव का अहंकार भाव नष्ट होकर समीचीन श्रद्धाभाव जाग्रत होता है ऐसी दु:ख दरिद्रता और नरकादिक दुर्गतियों से बचाने वाली, मन को निर्मल पवित्र बनाने वाली और भक्ति से मुक्ति दिलाने वाली आराधना-परिचर्या श्रावकों को नित्य प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए तथा सिद्धालय की अक्षय अनन्त सम्पदा को प्राप्त करना चाहिए।

रत्नत्रय की पहचान तथा रत्नत्रय एवं रत्नत्रयधारी की भक्ति में समीचीनता के साथ-साथ उत्साह में अनवरत वृद्धि हो इसलिए रत्नत्रयमय मोक्ष मार्ग की महिमा बतलाने वाले शास्त्रों का स्वाध्याय (पठन-पाठन) जिनालयों, पाठशालाओं और घरों-घरों में अवश्य होना चाहिए। जो पाप-क्षय, पुण्य-वृद्धि तथा चारित्र की उज्ज्वलता का अनुपम उपाय है।

जिस रत्नत्रय के सामने लौकिक रत्न, जो कि संसार पाप के कारण हैं, फीके पड़ जाते हैं एवं जब अपनी आत्मा रूपी पेटी में सुरक्षित उन सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र रूपी त्रय रत्नों की सच्ची पहचान हो जाती है तभी आत्मा अपने धार्मिक सुख में तल्लीन हो जाती है।

ऐसे रत्नत्रय रूप धर्म की भक्ति से मुक्ति के बारे में यह अल्प बुद्धि से जो कुछ कहा गया वह सभी भव्यों के उत्तम गति का कारण बने।

धर्म का प्राण दया

सभी धर्मों या संप्रदायों में दया (अहिंसा) का स्थान सर्वोपरि है। जहाँ दया नहीं वहाँ कोई भी धर्म नहीं टिक सकता, क्योंकि दया आधार है और धर्म आधेय, अत: आधार के बिना आधेय नहीं रह सकता। कभी बिना नींव के क्या ईंट-पत्थर का कोई महल बना है? तो कभी नहीं बना। इसी तरह साधन या कारण का जैसे साध्य कार्य के साथ घनिष्ठ संबंध है वैसे ही दया और धर्म का बड़ा संबंध है। शास्त्रों में आचार्यों ने कारण में कार्य का उपचार करते हुए 'अन्नमेव प्राणं' अन्न ही प्राण है; की तरह दया को ही धर्म कह दिया है। जो नि:संदेह सत्यार्थ है।

लोक व्यवहार में दया को अहिंसा, करुणा, परोपकार, अभयदान और वात्सल्य आदि नामों से पुकारा जाता है; जो सभी दया के ही प्रतिरूप हैं। दया धर्म सभी छोटे-बड़े प्राणियों को दु:ख-सुख आदि के क्षेत्र में समान रूप से देखता है। हमारी आँखों से नहीं दिखने वाले जीव या प्राणी भी हमारे जैसा ही सुख और दु:ख का अनुभव करते हैं अत: इन सभी पर करुणा का भाव रखने से दया धर्म का पालन होता है।

इस जगत् में चार तरह की आत्माएं हुआ करती हैं-

1. परमात्मा, 2. धर्मात्मा (पुण्यात्मा), 3. पापात्मा, 4. महापापात्मा (दुरात्मा)।

परमात्मा वह होता है जो दया भाव से उन्नत; पाप पाखण्ड से अति दूर होकर संसारी आत्माओं को मैत्री और परोपकार करने का उपदेश देता है और एक अपेक्षा से अपने शुद्धात्म ध्यान के सुख में तल्लीन रहता है।

धर्मात्मा या पुण्यात्मा वह होता है जो हिंसादिक पापों का त्यागी, पञ्च व्रतों का धारी, सच्चे धर्म मार्ग में दान, भक्ति, शील और उपवास आदिक को करने वाला तथा कदाचित् पाप कार्य हो जाने पर दण्डग्राही, पाप भीरु, सुख-दु:ख के क्षेत्र में सभी को समान रूप से देखने वाला, धर्मियों का सेवक और परोपकारी होता है।

पापात्मा वह होता है जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पञ्च पापों में लीन, अपने पारिवारिक व सहपाठी जनों के अलावा सभी के साथ छल-कपट, धन-अपहरण एवं कुशील आदिक पापों को करने वाला तथा धर्म कार्य से भी सांसारिक वस्तुओं को चाहने वाला व रागी-द्वेषी देवी, देवताओं का उपासक, अंधश्रद्धालु होता है।

महापापात्मा या दुरात्मा वह होता है जो पञ्च पापों के साथ-साथ धर्म नास्तिक अपने पारिवारिक जनों एवं मित्र गणों को भी ठगने, गुमराह करने वाला, जुआ, चोरी, माँस सेवन, मदिरा पान, शिकार, परस्त्री सेवन, वेश्यागमन ऐसे सप्त व्यसनों में आसक्त रहने वाला, हिंसक व्यापार एवं उद्योग करने वाला, गुरु निंदक, स्वार्थी और धर्म सम्पदा को भी हड़पने वाला होता है।

हम देखते हैं कि कुछ प्राणी जन्म लेते ही अपंग, कुरूप व दरिद्री हुआ करते हैं, जिसके कारण का विचार करते हुए हम यह अनुमान अवश्य लगा सकते हैं कि उनका अतीत अवश्य पापात्मा या दुरात्मा के कर्मों से संबंधित रहा होगा। अन्यथा वे सुडोल, सुन्दर रूप पाकर महलों या स्वर्गों में अवश्य उत्पन्न होते। क्योंकि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही धान्य काटा जाता है या फल खाने को मिलता है। अतः यह सुनिश्चित है कि हिंसादिक पापों का फल दुःख को ही देने वाला है और दया धर्म का फल सुख को उपजाने वाला है।

देखो! रास्ते में गमन करते हुए जीवन्धर कुमार ने एक मरणासन्न श्वान को सद्भावना पूर्वक णमोकार मंत्र सुनाया था और आत्मिक शान्ति के साथ मरकर वह श्वान (कुत्ता) देव पर्याय को पाकर सुदर्शन यक्ष हुआ था और एक समय उन्हीं जीवन्धर कुमार को जब काष्ठांगार राजा ने ईर्ष्या वश शूली पर चढ़वाया था तब वही उपकृत श्वान का जीव देव पर्याय से वहाँ देव रूप में आकर जीवन्धर कुमार को शूली के ऊपर से ही उठा ले गया था और जीवन्धर कुमार की रक्षा हुई थी। इसी तरह तीर्थंकर पार्श्वनाथ राजकुमार ने लकड़ी के अन्दर जलते हुए नाग-नागिन की रक्षा का भाव रखते हुए पंच नमस्कार मंत्र सुनाया था अतः वे नाग-नागिन णमोकार मंत्र के सुनने रूप पुण्य के प्रभाव से पाताल लोक में धरणेन्द्र-पद्मावती नामक देव-देवी हुए थे और पार्श्वनाथ मुनीश्वर के उपसर्ग के समय उन्हीं देव-देवी ने उपस्थित होकर प्रत्युपकार किया था। इस तरह परोपकार करने वाले का उपकार निश्चित रूप से होता ही है।

अहिंसक व्यक्ति की मुद्रा व आवाज में बड़ी शक्ति निहित होती है, जिसके संदर्भ में दीवान अमरचंद का उदाहरण सुप्रसिद्ध है। एक बार जयपुर नरेश के दीवान श्री अमरचंद जैन ने अपने नरेश (राजा) की भावना सुनकर नरेश से नहीं पकड़ में आने वाले हिरणों के झुण्ड को अपनी दयामय प्रिय आवाज से कि-'हे हिरणो! तुम कहाँ जाते हो; जब तुम्हारा रक्षक ही भक्षक बन गया है तब तुम्हें शरण कहाँ? लो! मैं तुम्हें

अभयदान (जीव रक्षा रूप दान) दिलाकर बचाने आ रहा हूँ, रुक जाओ, रुक जाओ' ऐसा कहकर रोक लिया था और उन पर हाथ फेरकर अभयदान देकर छोड़ दिया था। राजन् को अहिंसक शाकाहारी बनने की प्रेरणा देने वाले दीवान जी से राजन् ने कहा कि हे दीवान! अगर तुमने सिंह को शाकाहारी बना दिया तो मैं भी शाकाहारी बनकर अहिंसा प्रधान जैन धर्म को स्वीकार कर लूंगा। तब ऐसा सुनते ही दीवान जी ने कैसे दया धर्म का माहात्म्य दिखलाया था? जिसे यहां संक्षिप्त में बतलाता हूँ कि एक विशाल पिंजड़े में बंद किये गये तीन-चार दिन के भूखे सिंह को राज्य के भारी जनसमूह एवं राजन् के समक्ष दीवान अमरचंद ने जलेबी का थाल लेकर पिंजड़े में प्रवेश किया था, द्वार पर ही णमोकार मंत्र का उच्चारण कर ऊँचे शब्दों में सिंह को पुकारते हुए कहा कि हे वनराज! लो यह अहिंसा से निर्मित भोजन और अपनी भूख शांत करो; क्योंकि हिंसा से निर्मित भोजन अनन्त काल तक भूख को उत्पन्न करने वाला है। अतः यह अहिंसा से निर्मित भोजन तुम्हें अल्प काल में ही भूख के दुःख से उठाकर शिव गति पहुँचाने वाला है। माँस खाने का संस्कार जन्म से नहीं, संगति से पड़ता है, अन्यथा जन्मते ही प्राणी माता का दुग्ध पान क्यों करता है? सिंह ने अमरचंद के दयापूर्ण मधुर वचन सुन जलेबी के थाल पर छलांग लगाकर जलेबी को खाना शुरु किया और इधर भी जनता ने दीवान अमरचंद एवं जैन धर्म के जयगान गाना शुरु किये। जलेबी के थाल के थाल आते गए और सिंह के पेट में समाते गये। थोड़ी ही देर में सिंह की भूख शमन हुई, सिंह शाकाहारी बना और नरेश दयावान दीवान अमरचंद के चरणों में गिर पड़े। स्वयं जैन धर्म स्वीकार कर सारी जनता को भी जैन धर्म स्वीकार कराकर शाकाहारी अहिंसक बनाया जिस कारण जैन धर्म का माहात्म्य दिग्-दिगन्त तक फैल गया।

धन्य ऐसी दया धर्म की शक्ति जो हिरणों जैसे शक्तिहीन प्राणियों के भय को एवं सिंह जैसे शक्तिशाली प्राणियों के क्रोध को शांत कर देती है। अतः दया धर्म की अनन्त शक्ति को जानकर अपनी आत्मिक कमजोरी को दूर करते हुए मानव को दया धर्म का प्रचार-प्रसार कर दीवान अमरचंद-जैसा जीवन बनाना चाहिए।

स्वाभाविक रूप से जगत के सभी प्राणी शान्ति चाहते हैं और वे सांसारिक जीवन में नहीं मिलने वाली निराकुलता रूप शान्ति की खोज में उन दयावान महा करुणावान परमात्मा व धर्मात्मा की शरण में आश्रय लेना चाहते हैं और ऐसे दुर्लभ चरण कमलों में बैठकर शान्ति का अनुभव करते हैं। तीर्थंकर के समवसरण में सिंह, गाय

और नेवला, सर्प भी बैर-भाव रहित एक ही जगह पर बैठकर शान्तिपूर्वक धर्मामृत का पान करते हैं और इससे विपरीत क्रोधी, कषायी एवं हिंसक प्राणी का शब्द मात्र सुनते ही कुछ प्राणी अशांत हो जाते हैं या भयभीत हो बिना मुख देखे दूर से ही अपना मार्ग बदल लेते हैं अर्थात् दूर के रास्ते से निकल जाते हैं; उस हिंसक व कषायी प्राणी के निकट नहीं जाना चाहते।

धर्म और धर्मियों के सामने एक प्रश्न प्रमुख रूप से उठता है कि आज इस धर्मप्रिय भारत देश में धार्मिक भावनाएं अत्यधिक कमजोर क्यों होती जा रही हैं; इसका प्रमुख कारण क्या है? तो इसका प्रमुख कारण यही समझना चाहिए कि इस देश के अनादि से प्रचलित दयामय विश्व धर्म के सिद्धांतों को लोग विस्मृत करते जा रहे हैं और अन्य हिंसक देशों में प्रचलित मांस भक्षण, हिंसक व्यापार इत्यादिक रूप कुरीतियों को अपनाते जा रहे हैं। जिस भारत देश में दया, अहिंसा की मूर्ति व मैत्री भावना के प्रस्तोता वृषभदेव, भरत, राम, हनुमान और महावीर आदि हुए तथा जिनके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि रूप सिद्धांतों को आदर्श मानने वाले भारतवासियों का भारत आज भी महापुरुषों की जन्मभूमि एवं साधु-संतों के विहार से पावन पवित्रता को प्राप्त है। जिस भारत-भू पर आज भी प्राचीनकालीन कलात्मक मंदिर अपनी धर्म की अनुपम छटा को बिखेरे हुए हैं। लेकिन खेद की बात यह है कि धर्म मार्ग पर चलने वाले अनुयायी अपने धर्म मार्ग में बाधक कुछ ऐसे तत्वों के द्वारा कष्ट का अनुभव कर रहे हैं, जैसे कि जगह-जगह बूचड़खाने खुलना, अण्डे के उत्पादन केंद्र बनना एवं मांस भक्षण के अड्डे बनते जाना, इसी तरह चमड़े व सौन्दर्य-प्रसाधन आदि की वस्तुओं के लिए पशुओं की हिंसा की जाना और यहाँ तक कि विदेशी मुद्रा के लिए मांस को विदेशों को निर्यात किया जाना इत्यादि; जिस वजह से आज हमारा धर्म राष्ट्र हिंसा से घृणित राष्ट्र-जैसा बनता जा रहा है।

कई जगह पशुओं को जीवित अवस्था में शस्त्रों से मारना एवं गरम पानी उन जीवित पशुओं की पीठ पर डालकर उनका चमड़ा निकालना जैसे कुकृत्य आँखों में असीम पीड़ा उत्पन्न करते हैं। आने-जाने के मार्गों व गलियों में मांस, मछली, अण्डे और शराब की दुकानें तथा चमड़ा निकालकर टांगे गये पशुओं के कलेवर नरकों से भी सहस्र गुने दुःखद व अशोभनीय दिखाई देते हैं। यदा-कदा किसी साधु या धर्मात्मा की दृष्टि उस घिनोने मांस या जीव मृत कलेवर पर पड़ जाए तो वे धर्मात्मा साधु पुरुष उस

दिन भोजन (धान्य, फल, शाकादिक) को छोड़कर उपवासादि को ग्रहण कर लेते हैं। क्योंकि जीवरक्षण की भावना से उनका हृदय आद्रीभूत होता है। वे हमेशा भावना भाते रहते हैं कि-

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःख भाक्भवेत् ।।

भविष्य की ओर दृष्टिपात करने पर अनुमान से यह भासित होता है कि पश्चिमी देशों के प्रभाव से प्रभावित होकर अथवा रसना इन्द्रिय की लोलुपता वश मांसादिक अभक्ष वस्तु के भक्षण से अपने अहिंसा धर्म के जयघोष करने वाले भारत देश की स्थिति अभी हिंसा के ऐसे ताण्डव नृत्य से इतनी बुरी घृणास्पद है तो आगे आने वाले वर्षों में कितनी निंदक व दयनीय होगी? क्या सारा धार्मिक जीवन ही नष्ट हो जाएगा? अथवा लोग पाप के भार से अनेकों भूकम्पों के प्रकोप, महाव्याधियाँ और दारिद्र पाकर विद्वेष से एक-दूसरे के सुखी जीवन को नष्ट करने में लग जायेंगे? अतः हमें धर्म रक्षा, पशु रक्षा के लिए कटिबद्ध होना चाहिए।

आज भी हमारे देश में कानून है कि सिंह, हाथी, मोर इत्यादि पशु-पक्षी राष्ट्रीय पशु-पक्षी के रूप में स्वीकारे गये हैं और जिनका वध करना अपराध है; इनको मारने वाला दण्ड का भागी होता है। इसी तरह कई प्रदेशों में धर्म स्थानों पर पशु हिंसा के निषेध के कानून बनाए गए हैं। ये सभी कानून धर्म सिद्धांतों या महापुरुषों के संदेशों के आंशिक रूप ही हैं, लेकिन आज स्वार्थ की ओट में इन सिद्धांतों का हेर-फेर किया जा रहा है अर्थात् धन-वैभव के लोभ में कानून भी टाले जा रहे हैं। धर्म निरपेक्ष राज्य की रक्षा हेतु नहीं बल्कि नोटों के लिए वोट दी जा रही है। जिस भारत देश को ब्रिटिश साम्राज्य से बिना गोली-बंदूक के स्वतंत्र कराया गया था उसी भारत देश में आज बूचड़खाने आदि खोले जा रहे हैं। यह बड़े आश्चर्य और दुख की बात नहीं है तो क्या है? यह सब दुःख और जीवन में पतन के कारण हैं।

महापुरुषों ने कहा है कि -

''आत्मनि प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्''

अर्थात्-अपनी आत्मा को जो (मरना, दुःख पाना, कटना, आदि) इष्ट नहीं वह कार्य दूसरे प्राणियों के साथ भी नहीं करना चाहिए।

मेरे गुरुवर के गुरु आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने एक धीबर के उदाहरण से प्राचीन परम्परा रूप दया के माहात्म्य को दिखलाने वाले कथानक का आधार लेकर उस कथानक को विराट रूप देते हुए 'दयोदय' काव्य लिखा जो मूल में संस्कृत में लिखा गया और मंद बुद्धि वालों के लिए हिन्दी में भी लिखा गया है। जिसमें प्राचीनकाल के धीबर की कथा प्रस्तुत की गई है जिसने मुनिराज के सामने पहली मछली के त्याग करने, उसे अभयदान देने का नियम लिया था और बार-बार वही मछली उसके हाथ में आने पर उसे जितनी बार उसने अभय दान दिया उतनी बार अगले जीवन में उसे मरने के अवसर पर अभयदान के फलस्वरूप आत्मरक्षा का फल प्राप्त हुआ। इसलिए हमें विचार करना चाहिए कि जीवन्धर, पार्श्वनाथ, दीवान अमरचंद आदि जैसे परोपकार को करते हुए एक भी जीव की रक्षा करेंगे तो हमें इस भव में एवं अगले भव में कितना श्रेष्ठ फल प्राप्त हो सकता है और हमारा देश कितना उन्नत हो सकता है।

इस भारत देश में जो आज अहिंसा के उपासकों द्वारा पशु संरक्षण केंद्रों (गौ शालाओं) का सैकड़ों की संख्या में निर्माण किया जा रहा है वह बड़ा ही सराहनीय है क्योंकि इन अहिंसा केंद्रों से हिंसा अवश्य दूर होकर अहिंसा दया धर्म की वृद्धि होगी, क्योंकि जिन गाय, बैल, भैंस आदिक पशुओं को कसाईखानों को भेजा जाता है वे अनेक पारिवारिक सामाजिक कार्यों में सहयोगी होते हैं। कई लोगों का कहना है कि बूढ़े पशुओं को कसाईखानों में भेजने में क्या हानि है? तो उन्हें यह सोचना चाहिए कि जैसे जीवन भर उपकार करने वाले अपने माता-पिता को अंतिम काल में बुढ़ापे के समय भी घर में ही रखकर रक्षा की जाती है वैसे ही जीवन भर दूध देने वाले या खेत में काम करने वाले पशुओं को कैसे कसाईखानों में भेजा जा सकता है? अन्यथा पशुओं के समान कभी पैसे आदिक के लोभ में मांस निर्यात हेतु माता-पिता भी एक दिन कसाईखानों में भेजे जाने लगेंगे। अत: बूढ़े अपाहिज माता-पिता को जैसे उदासीन आश्रमों में भेजते हैं वैसे ही बूढ़े अपाहिज पशुओं को पशु संरक्षण केंद्रों (गौ शालाओं) की भी बड़ी आवश्यकता है जिनके माध्यम से देश की हिंसा दूर होकर देश में सुख, शान्ति और आरोग्य की अभिवृद्धि होगी और धर्म के प्राणरूप दया की रक्षा होगी। इस तरह दया धर्म से रत्नत्रय को प्राप्त कर हम धर्मात्मा बनकर परमात्मा के पद को प्राप्त कर सकेंगे।

धर्म की महिमा

आत्मा को महान बनाने का पर्व दशलक्षण है। इस श्रेष्ठ दशलक्षण पर्व में भव्यात्माएं सांसारिक पर पदार्थों एवं विषयों से ममत्व छोड़ अपने आत्म उद्धार में सजग होती हैं।

आचार्य कुन्द-कुन्द देव ने कहा है कि- "चारित्रं खलु धम्मो" चारित्र ही वास्तविक धर्म है। हमारे जैनागम में जो चारित्र रूप उत्तम क्षमादिक दशलक्षण धर्म कहे गए हैं वे संसारी जीवों के कर्म के संवर एवं निर्जरा का परम् साधन हैं। ऐसे दश धर्मों का प्रमुख रूप से या पूर्ण रूप से हमेशा पालन करने वाले निर्ग्रन्थ महा-मुनीश्वर होते हैं तथा गृहस्थ लोग भी साधना रूप से, यह भावना भाते हुए कि- मैं भी कभी आगे मुनि बनकर मोक्ष प्राप्ति हेतु इन धर्मों का पूर्ण रूप से पालन कर सकूँ इस उद्देश्य से दशलक्षण महा-पर्व के समय त्याग, संयम का नियम कर और एक भुक्ति के नियम के साथ दश धर्मों का पालन करते हैं।

दशलक्षण पर्व के समय श्रावकगण अपने आरम्भ, परिग्रह की क्रियाओं को संकुचित कर अपने बहुमूल्य समय को भगवान की गुणाराधना, दान, जप और स्वाध्यायादि पवित्र कार्यों में व्यतीत करते हैं।

श्रेष्ठवान यह दशलक्षण पर्व, अष्टाह्निक पर्व की तरह वर्ष में तीन बार आता है। लेकिन बहुतायत लोग वर्षायोग या चातुर्मास काल के मध्य में आने वाले भाद्रपद मास संबंधी दशलक्षण पर्व को विशेष रूप से मनाते हैं। जिसका मुख्य कारण यह है कि उस समय मौसम की अनुकूलता के साथ-साथ त्याग, संयम की भावना बढ़ाने में सहयोग या प्रोत्साहन देने वाले त्यागी, संयमी, मुनियों के चातुर्मास का लाभ उन्हें प्राप्त होता है।

क्षमा धर्म का विरोधी क्रोध है, मार्दव धर्म का विरोधी मान है, आर्जव धर्म का विरोधी मायाचार है और शौच धर्म का विरोधी लोभ है। अत: क्रोध, मान, माया और लोभ रूप इन चार कषाय भावों को हटाने से आत्मा में उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव और उत्तम शौच ये चार धर्म प्रकट होते हैं।

अपकारी असत्य का त्याग सो उत्तम सत्य धर्म है। जीवों की रक्षा के साथ-साथ इन्द्रियों और मन पर लगाम लगाना सो उत्तम संयम धर्म है। इच्छाओं का निरोध कर अनशनादिक बाह्य एवं प्रायश्चित्तादिक अंतरंग तपों को तपना उत्तम तप धर्म है।

ज्ञान या उपकरणादिक का दान देना सो उत्तम त्याग धर्म है। आत्मा के पास थोड़ा भी बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का न होना सो उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है और सम्पूर्ण रूप से कुशील भावना से दूर होकर अठारह हजार प्रकार के शील सहित आत्मा या आत्मब्रह्म में लीन हो जाना उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है।

प्रत्येक क्षमादिक दश धर्मों के साथ जो यहाँ ''उत्तम'' यह विशेषण लगाया गया है उसका तात्पर्य यह है कि इन सभी धर्मों का पालन करते समय, इन धर्मों के द्वारा सांसारिक भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा न रखते हुए उत्तम गति अर्थात् मोक्ष प्राप्ति की भावना रखना चाहिए।

ऐसे श्रेष्ठ, महान् चारित्र रूप दशलक्षण धर्मों को प्रत्येक आत्माओं के लिए अपनाना चाहिए। मात्र ज्ञान-ज्ञान की चर्चा करने से सांसारिक दु:खों से छुटकारा या मोक्ष प्राप्त नहीं होता। समीचीन श्रद्धा के साथ ज्ञानपूर्वक आचरण करने से मोक्ष की प्राप्ति होती हैं जैसे रोग को दूर करने के लिए औषध के मात्र श्रद्धान से, या आचरण (सेवन) से रोग दूर नहीं होता। रोग दूर करने के लिए औषध पर श्रद्धान (विश्वास) के साथ औषधि सेवन के ज्ञानपूर्वक उसको उपयोग में लाने (सेवन) से रोग से मुक्ति होती है।

आत्मा को शुद्ध बनाने के लिए निश्चय धर्म के साथ-साथ समीचीन व्यवहार धर्म का पालन परम सहायक होता है। जिस प्रकार दही से घी बनाते वक्त दही के घड़े में पड़ी मथानी को निश्चय एवं व्यवहार रूप दोनों रस्सियों को क्रमश: बार-बार खेचना पड़ता है तभी उसमें से सार भाग बाहर आता है। उसी तरह मुनिजन जब निश्चय और समीचीन व्यवहार धर्म (षडावश्यकादि) का बार-बार सहारा लेते हैं तभी आत्मा की शुद्धावस्था प्राप्त होती है।

हाँ! यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि क्रिया को छोड़े बिना भी उत्कृष्ट ध्यान की उपलब्धि नहीं होती, लेकिन समीचीन व्रतादिक रूप धार्मिक क्रियाएं उस उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करने में पूर्ण सहायक (निमित्त) हैं। जैसे- नाव को छोड़े बिना नदी के दूसरे तट पर नहीं पहुँचते, लेकिन नदी के दूसरे तट तक पहुँचाने के लिए नाव परम सहायक है क्योंकि उसके बिना नदी का दूसरा तट प्राप्त नहीं होता। अत: जितनी भी आत्माओं ने मोक्ष के अनंत सुख को पाया है उन सभी ने व्रत, संयम रूपी समीचीन व्यवहार धर्म रूप नाव का सहारा अवश्य लिया है आगे भी त्याग, संयम अपनाकर आत्म लाभ उठाने वाली पुण्यात्माओं के लिए अपूर्व सुख, शान्ति के साथ भव से शीघ्र

मुक्ति की प्राप्ति अवश्य होगी।

जिस मंगल भावना को जिन धर्मों से साकार रूप मिलेगा उन्हीं दशलक्षण धर्मों को संक्षेप में आगे वर्णित किया जा रहा है।

क्रोध का शमन-क्षमा का मिलन

क्रोध का अभाव या शमन होना क्षमा धर्म कहलाता है।

''क्रोधस्याभावः क्षमा''

मानव या जीव मात्र की क्रोध रूप अवस्था एक विभाव परिणति है जो अपने आपको वास्तविक समता, क्षमा शान्ति रूप स्वभाव से विलग कर देती है। आज का भौतिक युग मानव की आवश्यकताएँ बढ़ाते हुए और नये-नये साधनों के माध्यम से लौकिक सुख को भी प्रदान करता है; लेकिन पुण्य-पाप रूप कर्म सिद्धांत से अनभिज्ञ होने के कारण मानव को अपने पुण्य की क्षीणता आदि के निमित्त से किसी समय कुछ अनुपलब्धियों में जो क्रोध की अग्नि भभक उठती है वह एक दूसरे के हृदय के लिए या पारिवारिक जीवन के लिए अभिशाप बन जाती है। ऐसी परिस्थिति में क्षमा धर्म शीतल जल का काम करता है। कुछ धर्म के चिंतन, वचन क्रोधाग्नि को शमन करने में कारण बन जाते हैं।

क्रोध के मूल कारणों का अभाव किए बिना तात्कालिक शांति मिलना तो सम्भव है लेकिन त्रैकालिक शान्ति के लिए उबले दूध में पानी छिड़कने मात्र से नहीं नीचे से अग्नि निकाल देने पर ही दूध का उबलना बंद हो सकता है तभी वह पूर्ण शान्त, ठंडा हो पाता है नहीं तो छीटे मारने पर क्षणिक समय के उपरान्त पुन: उबलने लगता है। इसी तरह संसारी प्राणी को जो क्रोध उत्पत्ति होती है उसका कारण परिग्रह आदिक का लालच ही है। जिस वजह से आज देश-विदेशों में युद्ध, बैर, तनाव आदिक के प्रसंग उपस्थित हो रहे हैं। जिसके परिणाम स्वरूप ही देखो कुछ वर्षों पूर्व घटी वह घटना जो कि नेपाल में एक राज पुत्र द्वारा अपने परिवार की हिंसा, इसी तरह अमेरिका में सात वर्ष में निर्मित इमारत का कुछ मिनटों में ध्वस्तीकरण और ईरान-ईराक का युद्ध होना इत्यादि।

आज प्राय: प्रत्येक घरेलू कार्यों में छोटी-छोटी बात पर भी झगड़े शुरू हो जाते हैं, कोई वस्तु यहाँ से वहाँ होते ही क्रोध आ जाया करता है, थाली में नमक कम हो जाए तो थाली का चक्र बन जाता है यह सब क्षमा धर्म के विपरीत अवस्था में ही होता है। उन

राम को देखो कि जिन्होंने माँ कैकई पर रंचमात्र क्रोध न करते हुए क्षमा भाव धारण कर चौदह वर्ष वनवास सहर्ष स्वीकार किया था जिसका बड़ा आदर्श बना लेकिन रावण ने क्रोध कर राम से युद्ध किया तो वह अपने जीवन से हाथ धो बैठा।

मान का गलन - सुकोमल जीवन

मान कषाय के अभाव में जो सुकोमल परिणाममय जीवन होता है उसे मार्दव धर्म कहते हैं।

''मृदोर्भावो मार्दवं''

मृदुतामय परिणामों से मानव सभी ओर से सुखी आदरणीय बनता है। अपना बड़प्पन दिखाना, आत्म-प्रशंसा करना और दूसरों की निंदा करना या मान कषाय के रूप हैं। अपने धन, वैभव, कुल, जाति रूप, बल आदिक का गर्व नहीं करना चाहिए। दूसरों को नीचा दिखाने या किसी को तिरस्कृत करने से आपसी झगड़े तनाव बढ़ने से पारस्परिक वात्सल्य के अभाव में मानव का आन्तरिक शुद्धि के अभाव में नैतिक पतन हो जाता है।

जैसे मिट्टी पानी से मिलने पर जितनी सुकोमल कंकड़-पत्थर रहित शुद्ध बनती है उतना ही उसे (कुंभ आदि का) सुन्दर आकार प्राप्त होता है वैसे ही जब मानी प्राणी धर्म जल से पवित्र कोमल बनता है तब उसे भी सुन्दर गुणमय भगवान जैसा रूप-स्वरूप प्राप्त होता है।

गुणियों को देखने से मान गलता है और छोटों को देखने से मैं बड़ा हूँ ऐसा मान बढ़ता है। अतः गुण वृद्धि हेतु हमें ज्ञानियों का सम्पर्क करना चाहिए। राम मान के अभाव में कुटियों में रहना भी पसंद कर लेते हैं। और मानी रावण का अभिमान देखकर उसका भाई विभीषण उसका साथ छोड़कर राम के चरणों में आता है यही मार्दव धर्म का फल है।

माया का अभाव ही आर्जवता का सद्भाव

जीवन में सरलता होना व मान माया मायाचार कपट का अभाव होना ही आर्जवधर्म है।

''ऋजोर्भावः आर्जवः''

जिस आत्मा के अन्दर आर्जव धर्म होता है वहाँ उस आत्मा के प्रति सभी लोगों

का पूर्ण विश्वास जाग्रत होता है। उसे सब लोग आदर्श पुरुष मानते हैं। और जहाँ धोखेबाजी, छल-कपट पलता है वहाँ मनमुटाव, बुराईयाँ पैदा होती हैं।

आर्जव धर्म का अपने अन्तस् से बड़ा सम्बंध होता है जिसे ऊपर से समझना कठिन-सा प्रतीत होता है। कभी माता-पिता, शिक्षक आदि ऊपर से कुछ कटुता का प्रयोग करें तो भी उनकी उद्धार की भावना में आन्तरिक पवित्रता गर्भित होती है।

राम ने बड़ी कठोरता के साथ रावण को शिक्षा दी लेकिन वे पवित्र थे उनके अन्दर कोई छल नहीं था लेकिन रावण ने राम-राम नाम चादर ओढ़कर स्वयं को ही दुःख के गर्त में डाल दिया यह बगुला भक्ति या ध्यान आन्तरिक शुद्धि का कारण नहीं। किसी ने ठीक ही कहा है कि-

तन पर तो है सफेदी मन हो रहा गन्दा।
क्या करेगी जमुना अरु क्या करेगी गंगा॥

इसीलिए आर्जव धर्म का पालन करने हम जो 'मन में होय सो वचन उचरिये वचन होय सो तन से करिये' इस उपदेश को जीवन के हर कार्य में अमल में लाएँ और परम सुखी बनें।

लोभ का त्याग है शुचिता का मार्ग

अति लोभ और धर्म व धर्मात्माओं से ग्लानि को छोड़ना शौच धर्म कहलाता है। पवित्रता, शुचिता व निर्लोभता ये शौच धर्म के नामान्तर हैं।

''शुचेर्भावः शौचम्''

अर्थात्-निर्मल भाव शौच धर्म है।

स्वार्थ बुद्धि से धर्म करना, रोगी, गरीबों और तप, ध्यान करने वाले साधुओं से घृणा करना अपनी आत्मा-शुचिता व पवित्रता को नष्ट करता है।

अति-लोभी व्यक्ति धर्म की ओट में भी जो पाप करता है उससे धर्म का उपहास होता है और अन्य लोग धर्म मार्ग से भयभीत होने लग जाते हैं। इसी संदर्भ में धर्मशास्त्रों के वचन है कि-

अन्य क्षेत्रे कृत्तं पापं धर्म क्षेत्रे विनश्यति।
धर्म क्षेत्रे कृत्तं पापं वज्र लेपो भविष्यति॥

अर्थात्-संसार या लौकिक क्षेत्र में किया गया पाप धर्म क्षेत्र अर्थात् सच्चे देव, गुरु आदिक के सामने पश्चात्ताप और प्रायश्चित करने पर आत्मा से दूर हो जाता है। और धर्म क्षेत्र में (धर्म का पैसा, भूमि, मंदिर सम्बंधी वस्तुओं के सम्बंध में) किया गया पाप वज्र लेप के समान कठिन या दृढ़ हो जाता है अर्थात् भवों-भवों तक दु:खों का कारण होता है। निर्लोभता से आत्मा में बड़ी महानता प्राप्त होती है कहा भी है-

शुचिर्भूमि गतं तोयं शुचिर्नारी पतिव्रता।
शुचिर्धर्म परो राजा ब्रह्मचारी सदा शुचि॥

-(कातन्त्र)

भूमि के भीतर गया जल, पतिव्रतवान शीलवान नारी, धर्मनिष्ठ राजा और कामवासना त्यागी ब्रह्मचारी सदा पवित्र होता है।

निर्लोभी राम लंका जीतने के बाद भी उस पर मोह न कर अपने पिता के राज्य में लौट आए और उनकी पवित्र भावना से उन्हें अनायास ही अयोध्या का राज्य प्राप्त हुआ यही शुचिता धर्म का फल है।

उत्तम सत्य धर्म है विजय का मार्ग

सज्जनों से हितकारी वचन बोलना सत्य धर्म कहलाता है।

''सते हितं यत् कथ्यते तत् सत्यम्''

सत्य का फल बड़ा मीठा होता है, आपसी व्यवहार में समीचीनता आती है, शत्रु से आत्मविश्वास, अपनापन और वात्सल्य वृद्धिगत होता है, जो व्यक्ति एक बार भी सत्य को छोड़ता है उसे असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए सैकड़ों बार असत्य का प्रयोग करना पड़ता है, इसी तरह एक बार भी असत्य बोलने के उपरांत हजारों बार सत्य बोलने पर भी उस सत्य को भी असत्य की कोटि में मान लिया जाता है।

सत्य की रक्षा हेतु शास्त्रों में पांच भावनाएं आवश्यक मानी गई हैं, 1. क्रोध का त्याग, 2. लोभ का त्याग, 3. भय का त्याग, 4. हास्य का त्याग और 5. शास्त्रानुकूल वचन। ऐसा देखा जाता है कि लोग क्रोध के समय झूठ बोल जाते हैं, कोई लोभ के वशीभूत होकर सत्य को छुपा लेते हैं, कभी कष्टों या धन-पदवी आदिक के भय से असत्य मार्ग का समर्थन करने लग जाते हैं, जहां कहीं हास-परिहास में झूठी असत्य बातों का प्रयोग मजाक के रूप में होने लगता है, इसी तरह शास्त्र ज्ञान से अनभिज्ञ लोग

अपनी मनमानी बातों का प्रयोग कर लोगों को गुमराह कर देते हैं। ये सब असत्य के रूप हैं, झूठे लेख लिखना, किसी को बदनाम करना आज का व्यसन-सा बनता जा रहा है जिसका फल लोग इस लोक में अनेक व्याधि, धन हानि आदिक रूप से अवश्य पाते हैं और शास्त्र कथित उदाहरण में असत्य से राजा वसु के सिंहासन का जमीन में धस जाना और नरक के दु:ख पाना तथा असत्यवादी श्री वंदक की आंखें फूट जाना, सत्यघोष का राज्य दंड व दुर्गति पाना आदिक ये सत्य घटनाएं हैं, किसी ने ठीक ही कहा है कि-

सच्चाई छुप नहीं सकती झूठे उसूलों से।
खुशबू आ नहीं सकती कागज के फूलों से॥

सती सीता के शील के प्रभाव से अग्निकुंड में जल में कमल खिला, सेठ सुदर्शन को शूली का सिंहासन बना आदि ऐसे सत्य धर्म से हुए अतिशय चमत्कार के महान उदाहरण हैं जो हर एक व्यक्ति को सत्यवादिता का साहस उत्पन्न करते हैं, जैसे कहा ही है- ''सत्यमेव जयते'' राजा दशरथ ने-

''रघुकुल रीति सदा चली आई, प्राण जाएं पर वचन न जाई।''

वाली बात एवं हरिश्चंद्र ने स्वप्न में कही राज्य दान की बात को पूरा निभाया था और अपना सुंदर नाम लोक में अमर किया था अत: यह बात चरितार्थ हुई कि- ''सत्यं शिवं सुंदरम्'' सत्य ही शिव है अर्थात् मोक्ष का कारण है और आत्मा को सुंदर श्रेष्ठ बनाता है।

संयम से आत्मा की सम्हाल

सम्यक् रूप से आत्मा पर नियंत्रण करना संयम कहलाता है।

''सम्यक् यमो वा संयमः''

अथवा इंन्द्रियों को अपने वश में रखने का नाम संयम है।

''इन्द्रिय निरोधो संयमः''

अपने जीवन को व्यवस्थित करने के लिए अपनी मन-वचन-काय की क्रियाओं को संयमित करना आवश्यक है। अगर मन को वश में नहीं किया तो वह बंदर की तरह पापों की ओर भागकर हमारी आध्यात्मिक सम्पदा को नष्ट कर देता है और वचनों को अपने काबू में नहीं रखा तो अनावश्यक वचनों से अपना गौरव समाप्त होकर अपने वचनों का अनादर होने लग जाता है। इसी तरह अपनी काया शरीर को

अनावश्यक कार्यों से नहीं सम्हाला तो अपनी गम्भीरता नष्ट होकर शारीरिक एनर्जी खो जाती है और व्यक्ति धार्मिक कार्यों में आलस्य करने लग जाता है।

संसार के हर एक क्षेत्र में संयम पाया जाता है लेकिन वह संयम केवल लौकिक संयम है, पारमार्थिक नहीं। जैसे हम देखें तो गाड़ी चलाने वाला बड़ा संयमित होता है नहीं तो एक्सीडेन्ट होने में देर नहीं। कम्प्यूटर चलाने वाला भी बड़ा सतर्क होता है नहीं तो चिंता का चिता होने में देर नहीं इत्यादि। यही विवेक अगर यदि जीव रक्षा में लगाया जाए तो मोक्ष मार्ग शुरू हो जाए।

संयम के दो भेद होते हैं– एक इन्द्रिय संयम और एक प्राणी संयम। जो अपनी स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों के विषय कोमल, ठण्डे, गरम आदि स्पर्शों से मीठे, खट्टे, चरपरे आदि रसों से; मनोहर दृश्यों से तथा मधुर संगीत के निमित्त आदि से मन को राग–द्वेष से बचाने रूप पुरुषार्थ है वह इन्द्रिय संयम कहलाता है। और एकेन्द्रिय पेड़–पौधे आदि, द्वीन्द्रिय लट–केचुआ आदि, त्रीन्द्रिय चींटी, खटमल आदि, चतुरेन्द्रिय मक्खी, भ्रमर आदि तथा पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्यादि जीवों के घात से विलग होना प्राणी संयम कहलाता है।

आगम में इसी संयम के दूसरी तरह से भेद सकल संयम और देश संयम रूप से भी कहे गए हैं।

गृह त्यागी मुनि जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों को धारण करते हैं तथा धन–पैसा, गाड़ी–मोटर, व्यापार आदिक कार्यों से बहुत दूर रहते हैं उनके जीवन में सकल संयम होता है। गृह निवासी गृहस्थों द्वारा अहिंसा आदि व्रतों का स्थूल रूप से पालन करते हुए न्याय, नीति से अपनी आजीविका चलाना देशसंयम कहलाता है।

जिस आत्मा के जीवन में संयम होता है वह अपनी शक्ति का प्रयोग ध्यान, योग और जन कल्याण में अच्छी तरह से कर सकता है। किसी ने ठीक ही कहा है कि–

A Man Whose Heart is pure
Has the Strength of Ten

जिस व्यक्ति का हृदय संयमित (शुद्ध पवित्र) है उसके पास दस व्यक्तियों के सदृश शक्ति होती है।

तप से आत्म शुद्धि

आत्म–निर्मलता एवं पाप कर्मों के क्षय के लिए जो आत्मा को ध्यानादि की आग में तपाया जाता है उसे तप कहते हैं–

'कर्म क्षयार्थं तप्यत इति तपः' 'इच्छा निरोधो तपः'

तप के साथ इच्छाओं का निरोध करना आवश्यक है। मानव की इच्छाएं ध्यानादिक रूपी तप में बाधक मानी गई हैं, तप बारह प्रकार के होते हैं, उपवास, रसादिक का त्याग आदि छह प्रकार के बहिरंग तप एवं प्रायश्चित्त, विनय, ध्यानादि छह प्रकार के अंतरंग तप, इनमें ध्यान तप सबसे उत्तम माना है। धर्मात्मा का ध्यान रूपी अग्नि में स्वर्ण जैसा शुद्ध बनने के लिए राग, द्वेष, कषायों और पाप रूपी किट्ट कालिमाओं से विलग होकर आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए दुग्ध से घृत तक की यात्रा सदृश अपने जीवन में प्रक्रिया करनी पड़ती है, जैसे दूध को पहिले अग्नि पर तपाया जाता है फिर उसमे जामन डाला जाता है, तब वह दही बनकर भिन्न–भिन्न नजर आता है, इसके बाद उसे दो रस्सियों को मथानी से मथा जाता है, तब उससे नवनीत बाहर आता है, नवनीत को भी तपाने पर वह घृत बन जाता है, यह इसकी परम शुद्ध अवस्था है और घृत फिर कभी लौट कर दुग्ध नहीं बनता। बस इसी तरह आत्मा को पहिले तप की आग में तपाकर शरीर और आत्मा को भिन्न–भिन्न समझने रूप भेद विज्ञान प्राप्तकर निश्चय व्यवहार रूपी रस्सियों से सहित प्रथम दो शुक्ल ध्यान रूपी मथानी से मथकर घातिया कर्मों का क्षय होने से नवनीत जैसी अरहन्त अवस्था को प्राप्त किया जाता है, इस अवस्था में पाप कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु पुण्य कर्म अभी भी बाकी रह जाते हैं, परम शुद्ध बनने के लिए अंतिम दो शुक्ल ध्यानों की अग्नि में आत्मा को तपाकर अघाती कर्मों को भी नष्ट कर घृत जैसी परम शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर संसारी अवस्था से मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त किया जाता है। यह सब ध्यान की ही महिमा है।

ध्यान का अभ्यास प्रतिदिन तीन बार अर्थात् सूर्योदय के संधि काल में मध्याह्न काल में एवं सूर्यास्त के संधिकाल में किया जाना श्रेष्ठ माना जाता है। इन कालों में परिग्रह से निर्मोही आत्मा पद्मासन, खड्गासन आदि योगों के साथ परमात्मा और तत्वों का; ध्यान में अवलंबन लेकर एकाग्रता के साथ एकांत स्थान में ध्यान करता है, जैसे दूरबीन (लेंस) के माध्यम से सूर्य की सारी किरणों को एकत्रित करके एक कागज पर डालने से कागज जल उठता है वैसे ही जब आत्मा का ध्यान सब ओर से हटा करके

अपनी आत्मा पर केन्द्रित किया जाता है, तब आत्मा से संबंधित कर्म रूपी कागज जलकर नष्ट हो जाते हैं, तभी यह आत्मा मोक्ष प्राप्त कर परम शुद्ध सिद्ध बन जाती है यही ध्यान का फल है, यही मोक्ष हमारी श्रेष्ठ अवस्था है।

राग से दुःख त्याग में सुख

सांसारिक वस्तुओं से मुक्त होना या पर पदार्थों से मोह छोड़ना त्याग धर्म कहलाता है।

''परिग्रहस्य चेतनाचेतन लक्षस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते''

पाप और संसार को बढ़ाने वाली समस्त वस्तुओं को छोड़ने के उपरान्त भी साधु लोग जो अन्य संयमी जनों को ज्ञान व चारित्र रूप व्रतों को प्रदान करते हैं वही उनका त्याग धर्म है।

''संयतस्य योग्यं ज्ञानादि दानं त्यागः''

गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले श्रावकों द्वारा जो धर्मी जनों के बीच आहार, औषध, धर्मोपकरण एवं निवास स्थान रूप चार प्रकार के दान दिये जाते हैं उसे त्याग धर्म कहते हैं।

''संयत प्रयोग्याहारादिदानं त्यागः''

जिन वस्तुओं का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग किया जाता है उसे यम या यावत् जीवन त्याग कहते हैं। और कोई निश्चित समय के लिए त्याग किया जाय वह नियम त्याग कहलाता है।

धर्मात्मा द्वारा जुआ, चोरी, शिकार, मांस, शराब, परस्त्री सेवन और वेश्या गमन रूप सप्त व्यसनों का एवं रात्रि भोजन तथा जमीकंद आदि का आजीवन त्याग किया जाता है जो व्यक्ति इन वस्तुओं का त्याग नहीं करता उसकी तीर्थ यात्रा जप तप आदि की क्रियाएं व्यर्थ व निरर्थक होती हैं। जैसे महाभारत में कहा ही है कि-

मद्य मांसाशनं रात्रिं भोजनं कंद भक्षणं।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां, तीर्थयात्रा जपस्तपः॥

इस लोक में जितने भी पर पदार्थ अपने संयोग को प्राप्त होते हैं वे सभी एक न एक दिन वियोग को अवश्य प्राप्त होते हैं। और बिना त्यागे वे पदार्थ छूटते हैं तो मानव

को अति दुःख का अनुभव होता है लेकिन जब उन्हीं पदार्थों को बुद्धिपूर्वक उत्साह के साथ छोड़ा जाता है तब बड़े आनन्द की अनुभूति होती है और इसी तरह का त्याग मोक्षमार्ग में बड़ा कार्यकारी माना जाता है।

एक और बात है कि त्याग जिसका किया जाता है वह संयोग से प्राप्त पर वस्तुओं का ही किया जाता है। अपनी आत्मा के अलावा जितने भी शरीर, गृह, परिजन आदि दिखते हैं वे सब पर पदार्थ हैं और अपनी आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुण स्व पदार्थ हैं जिनका नाश या अभाव नहीं होता बल्कि पर वस्तुओं के त्याग से आत्मा के गुण बड़ी विशुद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं।

जितना त्याग करते हैं उतने ही अधिक सुख एवं सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति संसार अवस्था में होती ही रहती है। धार्मिक कार्यों के निमित्त से धनादिक का त्याग व दान करने से वह धनादिक बढ़ता ही है घटता नहीं यह तो विश्वास और श्रद्धा की बात है।

अगर कुएं से जल नहीं निकाला तो सड़ जाता है, पान को नहीं पलटा जाए तो सड़ जाता है, रोटी को नहीं पलटाया जाए तो जल जाती है और घोड़े को नहीं चलाया जाए तो अड़ जाता है। अतः धन नहीं निकाला तो मरने के बाद भूमि में ही पड़ा रह जाता है।

एक छोटे से बीज से बड़ी छाया युक्त वट वृक्ष बनता है इसी तरह थोड़ा-सा धन या त्याग रूपी दान तीर्थंकर, चक्रवर्ती या इन्द्र विभूति जैसे सुख को फलते हुए मोक्ष के शाश्वत सुख को भी फलता है तीर्थंकर वृषभदेव ने राज्यावस्था के एक छत्र को छोड़ा तो अर्हंत बनकर समवसरण में छत्रत्रय को प्राप्त किया था। राम, हनुमान, महावीर आदि को जो मोक्ष मिला वह संसार के त्याग से ही मिला था। यही त्याग की महिमा है।

अकेलापन ही है आकिञ्चन्य

सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना आकिञ्चन्य धर्म है।

''आकिञ्चन्य सकल ग्रन्थ त्यागः''

परम ध्यान की सिद्धि के लिए जिस आत्मा ने जगत के सभी संबंधों को छोड़कर तथा शरीर से भी मोह त्याग कर अन्तरंग व बहिरंग परिग्रह से मुक्ति प्राप्त की है और जिसका इस जगत में कुछ भी नहीं वह अकिञ्चन है और उसका भाव व कर्म आकिञ्चन्य कहलाता है।

''नास्य किञ्चनास्तीत्यकिञ्चनः तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम्''

पतंग जितनी हल्की होती है वह उतने ही ऊपर जाकर नभ में बड़ी सुशोभित होती है। अगर उसके एक ओर भार थोड़ा ही अधिक हो तो वह गोता खाती हुई नीचे जमीन पर आ गिरती है बस उसी तरह अंतरंग या बहिरंग परिग्रह आत्मा को ऊपर सिद्धालय तक पहुँचने में बाधक होते हैं।

क्षेत्र, वास्तु, धनादिक ये बहिरंग परिग्रह कहलाते हैं एवं मिथ्यात्व व क्रोधादिक कषाय ये अंतरंग परिग्रह कहलाते हैं। सम्पूर्ण शास्त्रों के जानकार होने के उपरान्त भी अगर एक परमाणु मात्र परिग्रह के प्रति राग विद्यमान होता है तो वह व्यक्ति आत्मा में ध्यान नहीं कर सकता जैसे कि कहा भी है-

परमाणुमित्तियं पि हु य रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागम धरोवि॥

(समयसार 211)

ध्यान के समय हमें चिन्तन करना चाहिए कि मैं स्वाश्रित हूँ, I am Independent मैं स्वतंत्र हूँ, इस प्रकार जब हम पूर्ण एकाग्र हो जाते हैं तभी आकिञ्चन्य धर्म में सम्पूर्ण परिग्रह मोचन की महिमा प्रकट होती है और यह आत्मा अपने अन्दर बैठी अनंत शक्तियों का उद्घाटन कर अनंतकाल के लिए मोक्ष में जाकर फिर कभी भी घृत से दुग्ध रूप में लौटकर न आने के सदृश नीचे नहीं आती है। वहीं शाश्वत सुख में लवलीन हो जाती है।

आत्मरमण ही है ब्रह्मचर्य

अपनी आत्मब्रह्म में लीन होना श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य कहलाता है।

''ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचर्यः''

ब्रह्मचर्य का पालन करने से अपनी शारीरिक एवं आत्मिक शक्ति का प्रयोग ध्यान करने में लगाया जाता है। सामान्य व्यक्तियों की शक्ति कुशील में व्यर्थ चली जाती है अतः उन लोगों को ध्यान की सिद्धि होना दुर्लभ है। योगमार्ग पर आने के लिए भोगमार्ग को तिलाञ्जलि देना परमावश्यक माना है। व्रत और चारित्र की प्रसिद्धि बिना ब्रह्मचर्य के नहीं होती।

ब्रह्मचर्य के प्रभाव से सीता के लिए अग्नि कुण्ड में देवों ने जल और कमल

की रचना कर कमल पर सीता को बिठाया था। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का धारक मानव देवों से भी पूज्य होता है। कहा भी है कि-

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो।
देवावि तस्स णमंसन्ति जस्स धम्मो सया मणो॥

ब्रह्मचर्य के पालन हेतु परस्त्री सेवन का त्याग, वेश्या गमन का त्याग तथा बुरे चित्रों और बुरे गीतों का त्याग इसी तरह तामसिक (मांसाहार, शराब, अण्डा, जमीकन्द आदि) का तथा गरिष्ठ भोजन का त्याग करना चाहिए और हर एक स्त्री को माता व भगिनी (बहिन) के समान देखना चाहिए। इसी तरह स्त्रियाँ भी पुरुषों को पिता भाई जैसा देखें और ब्रह्मचर्य के माध्यम से अपने गृह, कुल एवं गुरुकुल पर चार चाँद लगायें अस्तु।

वात्सल्य का पर्व - क्षमावाणी

दशलक्षण पर्व क्षमा धर्म से प्रारंभ होते हैं और इनके समापन पर भी क्षमा वाणी पर्व रूप में उत्सव मनाया जाता है जैसे कि अपने सहधर्मी जनों से क्षमा-भाव पूर्वक मोक्ष-मार्ग में दीक्षा धारण की जाती है और जीवन के अन्तिम समय में क्षमा-भाव पूर्वक सल्लेखना (समाधि) धारण की जाती है। अतः क्षमावाणी एक अन्तस् निर्मल करने की पावन प्रक्रिया है।

साधु लोग प्रतिदिन त्रिकाल प्रतिक्रमण में बोलते हैं कि-

खम्मामि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व-भूदेसु, बेरं मज्झं ण केण वि॥

मैं सभी जीवों से क्षमा याचना करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें, मेरा सभी जीवों से मैत्री भाव है किसी जीव से मेरा कुछ भी बैर-भाव नहीं है।

क्षमावाणी करने से अपने भावों में निर्मलता आती है, मन में हलकापन-सा प्रतीत होता है तथा आपस में वात्सल्य की मकरन्द महक उठती है।

जहाँ कुछ अज्ञानता या प्रमादवश कोई गल्ती या अनर्थ हो जाए तो बड़े विवेक और वात्सल्य के साथ उसके प्रचार-प्रसार पर रुचि न लेते हुए समझौते पूर्वक परस्पर में क्षमा भावधारण करना समुचित है, नहीं तो वर्षों क्या जन्मों-जन्मों तक के लिए यह बैर हमारे दुःख का कारण बन जाता है। क्षमा के अभाव में आज के कोर्ट कचहरी और कल

के नरक निगोद कहीं दूर नहीं।

धैर्य और क्षमा का फल बड़ा मीठा होता है जैसे ऋषभ देव के पुत्र भरत के द्वारा बाहुबली पर चक्र चलाए जाने पर बाहुबली की क्षमा एवं एक वर्ष की तपस्या के प्रभाव से भरत को चरणों में आकर क्षमा याचना करनी पड़ी तथा क्षमा के भण्डार बाहुबली मुनीश्वर को शुक्लध्यान के माध्यम से केवलज्ञानरूप भगवानपने की प्राप्ति हुई।

राम ने कैकई माँ को क्षमा किया अत: चौदह वर्ष के वनवास के उपरान्त उन्हें अपने राज्य में राज्य पद की प्राप्ति हुई।

पार्श्वनाथ तीर्थंकर को उपसर्ग के समय कमठ पर क्षमा करते हुए केवलज्ञान के साथ भगवानपने की प्राप्ति हुई। इसीलिए यह बात याद रखें कि क्षमा भाव से हमारे शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और हमारा उपकार कई जन्मों तक नहीं भूलते अत: सोचें कि-

HATE THE SIN, NOT THE SINNER

पाप से घृणा करो पापी से नहीं। क्योंकि पापों को छोड़कर पापी भी पवित्र बन सकता है। हम लोग थोड़ी-सी भी भूल होने पर एक शिष्टाचार सीखें और बोलें Please Excuse me कृपया मुझे क्षमा करें। बस हमारा जीवन मंगमलय होगा। एक कविता क्षमा पर बनाई थी, जिसे गहराई से विचारें-

क्षमा मात्र कहने से प्राणी, नहीं क्षमा वाणी होती।
नहीं रखेंगे बैर कभी भी, यही धर्म की है रीति॥
सारे जग में प्रेम बढ़े नित, नहीं किसी में भेद रहे।
सुखी रहें सब धर्मीजन ये, नहीं किसी को खेद रहे॥

-धर्म भावना शतक

पापी से नहीं, पाप से घृणा करो

पापी से नहीं, पाप से घृणा करो। प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु में कोई न कोई गुण अवश्य होता है। अतः हमें सदैव दूसरों के गुणों में दृष्टि रखनी चाहिए।

पूजा से पूज्य

हमारा जैनागम कहता है कि- 'वंदे तद्गुणलब्धये' अर्थात् मैं उन महान वीतरागी श्रेष्ठ आत्माओं के गुणों की प्राप्ति के लिए उन्हें नमस्कार करता हूँ। जब यह आत्मा गुणवन्त आत्माओं की भक्ति, पूजा इत्यादिक करती है तब एक दिन ऐसी ही उपर्युक्त श्रेष्ठ आत्माओं के गुणों को प्राप्त कर भक्त से भगवान या पूजा से पूज्य बन जाती है।

प्रत्येक भव्य आत्मा के अन्दर भगवान (परमेष्ठी) की शक्ति है जैसे बीज को योग्य भूमि, जलादिक रूप निमित्त के मिलने पर उसका उपादान फलित होता है; उसी तरह हमें सच्चे धर्म या वीतरागी देव-शास्त्र गुरु की प्राप्ति होने पर और उनकी पुरुषार्थपूर्वक पूजा, भक्ति, दान, सेवादिक करने पर उनके समान सम्यग्दर्शनादिक गुणों की प्राप्ति भी सुलभ होती है।

पूर्वाचार्यों ने कहा है कि जैसे चंदन के वृक्ष पर लिपटे हुए भयंकर सर्प मयूर की आवाज रूपी शब्दों से अपना बंधन छोड़ अपने बिल (बामी) में प्रवेश कर जाते हैं। उसी तरह आत्मा रूपी वृक्ष पर लिपटे कठिन-से-कठिन कर्म रूपी सर्प भी भगवान की भक्तिरूपी गुणानुवाद के शब्दों रूप प्रशस्त राग भावों से निकल कर निर्जरित या क्षय हो जाते हैं।

अत: जो गृहस्थ श्रावक ऐसी आत्मा को परिमल करने वाली वीतराग पूजा को नहीं करता उसके सम्बंध में पद्मनन्दी पंचविंशतिका में कहा गया है कि-

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति, पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां, तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥ 15॥
प्रातरुत्थाय कर्त्तव्यं, देवता गुरु दर्शनम्।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या, धर्म श्रुतिरुपासकैः॥ 16॥

अर्थात्- जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान का न दर्शन करते हैं, न पूजन और न ही स्तुति करते हैं, उनका जीवन निष्फल है तथा उनका गृहस्थाश्रम में रहना धिक्कार है। श्रावकों को प्रात:काल में उठ करके भक्ति से जिनेन्द्र देव तथा निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन और उनकी वन्दना करके धर्म श्रवण करना चाहिए।

जिनेन्द्र या वीतराग पूजा अनेक भेदों से सहित कही गई है। जिसमें प्रथम द्रव्य

और भाव पूजा के भेद समझना चाहिए। परिग्रह त्यागी निर्ग्रन्थ मुनिजन जो भगवान की स्तुति, वंदना, भक्ति इत्यादि करते हैं, वह भाव पूजा कहलाती है। इसी तरह परिग्रही गृहस्थ लोगों द्वारा अपने परिग्रह पाप को कम करने एवं कर्म की निर्जरा तथा तीर्थंकर अर्हंत आदिक अवस्था की प्राप्ति कराने वाले अतिशय पुण्यानुबंधी पुण्य प्राप्ति हेतु जो शुद्ध-प्रासुक द्रव्यों सह गुणानुवादरूप पूजा की जाती है वह द्रव्य पूजा कहलाती है।

आगे नित्य पूजा और नैमित्तिक पूजा ऐसे दो भेद भी जिनागम में कहे गए हैं। नित्य पूजा का अर्थ नित्य प्रतिदिन की जानेवाली देव-शास्त्र, गुरु परमेष्ठी या नवदेवताओं की पूजा एवं नैमित्तिक पूजा का अर्थ है विशेष तिथियों या पर्वादिक में की जानेवाली पूजा। नैमित्तिक पूजा के नंदीश्वर जिन पूजा, पंचमेरुजिन पूजा व सिद्धचक्र जिन पूजा आदिक अनेक भेद हैं; जिसे आगे कहेंगे।

उपर्युक्त पूजाओं को करते समय विवेकी गृहस्थ यह ध्यान रखता है कि जैसे महाव्रती-मुनिराज की परिचर्या प्रासुक (अचित्त) द्रव्यों से ही की जाती है, अतः वीतरागी अर्हंत भगवान भी महाव्रती मुनियों से भी श्रेष्ठ माने जाते हैं। अतः उनकी पूजा भी कुएं के छाने गए व प्रासुक किए गए जल एवं प्रासुक अचित्त द्रव्यों से करता है। कभी भी सचित्त पुष्पादिक वस्तु को सचित्त त्यागी महाव्रती भगवान पर नहीं चढ़ाता। क्योंकि अतिचार, अनाचार से की गई पूजा उत्तम फल के देने में समर्थ कैसे हो सकेगी? कभी नहीं!

कई भव्य लोग एकेन्द्रिय पुष्पों के आश्रित रहने वाले बहु त्रसों की हिंसा से बचने के लिए सूखे प्रासुक लवंग रूप पुष्प का उपयोग करते हैं या पीले चावलों में पुष्प की स्थापना कर लेते हैं। इसी तरह दीपक से त्रस हिंसा बचाने हेतु उसके ऊपर कांच की चिमनी का उपयोग करते हैं जो उनके विवेक का प्रतीक है।

कई लोग जो पूर्ण हिंसा के त्यागी महाव्रती न होकर भी द्रव्य पूजा का निषेध करते हैं एवं दीपक चढ़ाने वालों को हिंसक समझते हुए उन्हें बड़ी हेय दृष्टि से देखते हैं, तो उनसे पूछा जाता है कि आप क्या इलेक्ट्रिक-लाइट में जिससे जल गर्म किया जाता है और जिससे टेपरिकार्ड व फैनादि चलते हैं उस लाइट में हिंसा नहीं मानते? तो दीपक से भी अत्यधिक हिंसा उस इलेक्ट्रिक लाइट में है। क्योंकि जहाँ इलेक्ट्रिक तैयार होती है उस जल प्रपात के पानी में जो असंख्यात मछली, मेंढक आदि होते हैं वे सब लाइट बनाने के यंत्र की चलती पंखी से मर जाते हैं। ऐसी हिंसा से उत्पन्न हुई लाइट के उपयोग में भी लाइट के पास असंख्यात त्रस जीव भी उड़ते और जमीन में पड़ते दिखते हैं और

अविवेकियों के पैरों से कुचले जाते हैं। फिर भी लाइट में कुछ भी हिंसा या दोष न मानकर उस लाइट से दीप आदिक जलाना कौन-सी वीतरागता या वैज्ञानिकता है। आज से दो-तीन सौ वर्ष पहले जब इलेक्ट्रिक रूप लाइट नहीं थी तब लोग कैसे दीपादिक का प्रयोग करते होंगे? आज तो जैन लोग भी पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित होकर धर्म के क्षेत्र में भी अपने रीति-रिवाज को विस्मृत करते जा रहे हैं, पूजा में जो शुद्ध वस्त्र धोती दुपट्टा रूप इन्द्रों की भूषा थी उसके स्थान पर अब विदेशी सूट, पेन्ट रूप ड्रेस आ रही है। आगे और क्या होगा कि धीरे-धीरे पूजा; नौकरों या और भी थोड़े आगे जाकर रोबट (कम्प्यूटर) से होगी नहीं मालूम?

अतः सन्मार्गी को आलस्य एवं तर्क-कुतर्कों को छोड़ सप्त व्यसन के त्याग के साथ-साथ रात्रि भोजन, बिना छना जल-पान एवं चमड़ा आदिक हिंसक वस्तुओं का त्याग कर जैन धर्म के आचार-विचारों के साथ सच्चा जैनी बन पूजा व दानादिक श्रावकोचित धर्मों के करने की योग्यता प्राप्त करना चाहिए। फिर गृह या व्यापारिक हिंसा से उत्पन्न हुए पापों का क्षय करने के लिए एक उत्तम साधन रूप भाव सहित द्रव्य पूजा का आलंबन लेना अनिवार्य कहा गया है।

हमारे आचार्यों ने श्रावकों के लिए प्रमुख रूप से त्रस जीवों की हिंसा के त्याग का उपदेश दिया है न कि स्थावर (एकेन्द्रिय) की हिंसा का। क्योंकि मुनि बनने पर ही एकेन्द्रिय की हिंसा का त्याग होता है। अगर गृहस्थ एकेन्द्रिय हिंसा से गृह में रहते हुए भी विरत होना चाहे तो असंभवत है वह न तो गृहस्थ रहेगा न मुनि। वह श्रावक अवस्था में अगर अपनी दान पूजादिक क्रियाएं छोड़ेगा तो वह कोई एकान्तवादी या निश्चयाभाषी आदि रूप मिथ्यादृष्टि बन जाएगा।

गृहस्थों द्वारा उत्तम भावों से की गई वीतराग की आराधना, भक्ति कितने उत्तम फल को देती है इसे हम स्वयं आचार्यों की वाणी से जान सकते हैं। एक जगह कहा है कि-

एकापि समर्थेयं, जिन भक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं।
पुण्यानि च पूरयितुं, दातुं मुक्ति श्रियं कृतिनः॥ 18॥

समाधि-भक्ति

अर्थात्- एक जिनभक्ति मात्र ही दुर्गति के निवारण में, पुण्य से पूरित करने में समर्थ है तथा वही भक्ति एक दिन मुक्ति लक्ष्मी को भी प्रदान करती है।

उपर्युक्त श्लोक से भक्ति या पूजा से पूज्य बनने का उपदेश मिलता है। इसी

तरह मुनियों के आचार ग्रन्थ में कहा है कि-

अरहंत णमोक्कारं, भावेण य जो करेदी पयदमदी।
सो सव्व दुक्ख मोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण॥ 506।।

-मूलाचार

अर्थ-जो प्रयत्नवान भव्य जीव भावपूर्वक अरहन्त को नमस्कार करता है वह अति शीघ्र समस्त दु:खों से मुक्त हो जाता है।

कषाय पाहुड सिद्धान्त ग्रन्थ की पहली पुस्तक में कहा है कि-

''अरहंत णमोक्कारो संपहिय बंधादो असंखेज्ज
गुण कम्मक्खयकारओत्ति।''

अर्थ-अरहंत नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा का कारण है।

धवला ग्रन्थ की छटवीं पुस्तक में भी कहा है कि-

''जिणबिम्ब दंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि
मिच्छत्तादि कम्मकलावस्स खयदंसणा दो।''

अर्थ-जिन बिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्म कलाप का क्षय देखा जाता है।

ऐसे द्वादशांग जिनवाणी के उत्तम वाक्य हमें भाव सहित पंच परमेष्ठियों की भक्ति करना सिखाते हैं। वंदना, स्तुति, नमस्कार, आराधना, उपासना, परिचर्या, पूजा और भक्ति आदिक शब्द सभी एकार्थ समझना चाहिए, क्योंकि इन सभी में वीतराग आत्माओं का गुणानुवाद होता है। भव्यात्माओं का परमेष्ठियों के गुणों से राग, स्नेह आदिक होना स्वाभाविक कार्य या गुण है। जो अज्ञानी लोग ऊपर कहे गए, आचार्यों के वाक्यों को न समझकर या उन पर अश्रद्धा रख अपने आप को बड़ा ज्ञानी समझते हुए कहते हैं कि भगवान परात्मा है उनका क्या ध्यान या पूजा करना मैं ही परम शुद्ध हूँ, ऐसा कहने वाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है वह तो आगम का अश्रद्धानी होकर मिथ्यादृष्टि ही कहा जाता है।

वीतराग की पूजा का उपदेश आज के ही मात्र भावलिङ्गी-सम्यक्दृष्टि मुनि ही देते हैं ऐसा नहीं इसी पंचम काल में हुए भावलिङ्गी मुनिश्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि-

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंद पूजोवदेसो य॥

प्रवचनसार अ.३, गा.६८

अर्थात्-दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, रत्नत्रय की आराधना करने के इच्छुक मुमुक्षुओं को दीक्षा प्रदान करना तथा उन्हें उनकी आवश्यक क्रियाओं, चर्या आदि के शिक्षण के माध्यम से उनका पोषण करना तथा श्रावकों को भगवान की पूजा आदि का उपदेश देना यह सरागसंयमी सच्चे भावलिङ्गी मुनियों का शुभ कार्य है।

महान आचार्य कुन्द-कुन्द से भी पूर्व; अंगज्ञान आदिक के धारक आचार्यों की पारंपरिक वाणी रूप कषाय पाहुड-जय धवला ग्रन्थ में वर्णित सूत्र में कहा है कि-

''दाणं पूजा सीलमुपवासो चेदि चउव्विहो सावय धम्मो''।

अर्थात्-दान, पूजा, शील और उपवास ये श्रावकों के चार धर्म हैं। ऐसे विषय को आचरण में लाकर सच्चे श्रावक बने; यही पूजा से पूज्य बनने का उपदेश है।

अगर ये दान, पूजा आदि धर्म निरर्थक या जड़ की क्रिया मात्र होते और संसार के ही कारण होते तो द्वादशांग जिनवाणी में इनका वर्णन क्यों किया जाता। अत: निश्चयवादी या निश्चयाभाषी मिथ्यात्वी लोगों के भ्रामक प्रचार से बचकर पंचमकाल के अंत तक होने वाले सच्चे भावलिङ्गी साक्षात् तीन परमेष्ठियों की सम्यक् आगमिक वाणी से अपना वर्तमान और भविष्य उन्नत करने में पं. सदासुखदासजी जैसे अपने समय का सदुपयोग करते हुए विषयों की वासना या सांसारिक कार्यों से विराम लें। अपने मानव जीवन की सार्थकता हेतु आचार्य पद्मनंदी स्वामी कथित उपदेश-

देव पूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने-दिने॥

वीतराग देव की पूजा, सम्यग्दृष्टि गुरु की उपासना, स्वाध्याय (पूर्वाचार्योंरचित चारों अनुयोगों के ग्रन्थ पठन), रात्रि भोजन, व जमीकंद त्याग एवं अणुव्रत आदिक रूप संयम, उपवास अवमौदर्य रस परित्यागदि रूप व प्रायश्चित विनय वैय्यावृत्त (सेवा) आदि रूप तप और आहार, औषध, उपकरण और आवास रूप चतुर्विध सत्पात्र दान रूप गृहस्थों के नित प्रतिदिन करने योग्य षट् कर्म कहे गए हैं। इनको करने वाला ही सम्यग्दृष्टि श्रावक कहलाता है। इन सबको अपने जीवन में अमल में लाकर जैन कुल धन्य करें।

पूजन की महिमा

वीतरागमय उत्तम गुणों का गान करना जो पूजा कहलाती है; उसे आराधना, उपासना, सद्‌भक्ति आदि नामों से पुकारा जाता है। पूजक से पूज्य बनने का, पूजा एक उत्तम साधन है। आज तक जितने भी भव्य जीव पूज्य बने, वे एक-न-एक दिन पूजक अवश्य रहे हैं। पूजक या विनीत बने बिना कभी भी किसी को मोक्ष सुख की प्राप्ति नहीं होती।

जिसने अपने आत्म पुरुषार्थ के बल से इन्द्रिय विषयों की आशाओं को जीत लिया है, ऐसे पंच परमेष्ठी ही पूजा के योग्य पूज्य कहे गए हैं। पंच नमस्कार मंत्र में भी इन्हीं पाँच को ही नमस्कार किया गया है। इसके साथ-साथ अरहंत भगवान से प्राप्त हुई वीतरागमय वाणी-जिनवाणी भी पूज्य कही गई है। जो वर्तमान में शास्त्र रूप है या शास्त्रोपदेश रूप है कोई स्त्री रूप नहीं।

पंच परमेष्ठी में जो अरहंत व सिद्ध हैं वे देव एवं आचार्य, उपाध्याय और सर्व निर्ग्रन्थ साधु गुरु रूप होने से पूज्य कहलाते हैं। चत्तारि शरणं में भी अरहंत, सिद्ध इन देवों को और साधु अर्थात् आचार्य, उपाध्याय व साधु या मुनि इन निर्ग्रन्थभेषी गुरुओं को तथा केवली प्रणीत धर्म अर्थात् केवली भगवान के द्वारा उपदिष्ट जिनवाणी रूप शास्त्र को लोक में परम मंगल, उत्तम और शरण रूप होने से पूज्य कहा गया है इनकी पूजा रूप दृढ़ श्रद्धा ही सम्यक्त्व है।

सम्यग्दृष्टि भव्यात्मा को वीतरागी देव शास्त्र और गुरु की पूजा का उद्देश्य दुख्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइ गमणं, समाहि मरणं, जिण गुणसंपत्ति होदु मज्झं अर्थात् मेरे दु:ख का क्षय हो, कर्म का क्षय हो, मुझे रत्नत्रय रूप बोधि का लाभ हो मेरा सुगति गमन हो, समाधि मरण हो तथा मुझे जिनेन्द्र भगवान के गुणों की प्राप्ति हो ऐसा होना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि पूजा के बदले सांसारिक भोगों की आकांक्षा कभी भी नहीं करता (रखता)। क्योंकि सांसारिक भोग बिना चाहे ही धान्य के साथ घास-पूस की तरह स्वत: ही प्राप्त होते रहते हैं। कर्म बंध के कारण स्वरूप जिन भोगों के त्यागे बिना सच्चे अविनश्वर सुख स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति कभी भी नहीं होती, पूजा के बदले सांसारिक उन भोगों की अभिलाषा करना रत्न की जगह खली का टुकड़ा मांगना है और कर्म-

सिद्धान्त को नहीं समझना या कर्म सिद्धान्त को नकारना है। अत: पूजा-भक्ति में हमारा पावन उद्देश्य 'वन्दे तद् गुण लब्धये' होना चाहिए अर्थात् नमस्कार पूजा उनके वीतराग निर्दोष गुणों की प्राप्ति के लिए होना चाहिए।

जिस प्रकार गृह परिग्रह के त्यागी निर्ग्रन्थ मुनिवर आत्मध्यान से बाहर आने पर भगवान के उत्तम गुणों के बखान रूप भाव पूजा, भक्ति किया करते हैं, उसी तरह गृहस्थ अपने परिग्रह से कुछ काल के लिए मोह कम करता हुआ; अपनी शक्ति के अनुसार विवेक के साथ शुद्ध प्रासुक द्रव्यों से वीतरागी की पूजा नित्य नियमानुसार किया करता है। गृहस्थों की पूजा नित्य पूजा और नैमित्तिक पूजा के भेद से दो तरह की कही गई है। जिसे सामान्य रूप से कहा जा चुका है उसे ही यहाँ विशेष रूप से कहते हैं-

१. नित्य पूजा :- जिसमें प्रतिदिन वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की प्रासुक जलादिक परिशुद्ध द्रव्यों के साथ गुणानुराग एवं रत्नत्रय रूप गुणवृद्धि हेतु नि:स्वार्थ भावनापूर्वक अर्थात् लौकिक आकांक्षाओं के बिना जो उपासना या आराधना की जाती है वह नित्य पूजा कहलाती है।

२. नैमित्तिक पूजा :- किसी पर्वादिक विशेष के दिनों में उन वीतरागी देव-शास्त्र और गुरु की पूजा रचाना नैमित्तिक पूजा कहलाती है। लौकिक आकांक्षाओं से रहित होकर सम्यक्त्व पूर्वक की गई ऐसी उत्तम पूजा अनेक विघ्नों की शान्ति, राष्ट्रशान्ति करने वाली एवं पर भव में उत्तम कुलादिक की प्राप्ति एवं परम्परा से मोक्ष की प्राप्तिरूप माहात्म्य को प्रकट करने वाली कही गई है। ऐसी नैमित्तिक पूजा के अन्तर्गत आने वाली कुछ पूजाओं के नाम इस प्रकार हैं जैसे- अष्टाह्निक (नंदीश्वर) पर्व पूजा, षोडशकारण पर्व पूजा, पंचमेरु पूजा, रत्नत्रय पूजा तथा विशेष वैभव के साथ की जाने वाली सिद्धचक्र मण्डल विधान पूजा, इन्द्रध्वज विधान पूजा, सर्वतोभद्र विधान पूजा और कल्पद्रुम मण्डल विधान पूजा इत्यादि।

अष्टाह्निक पर्व पूजा:- अष्टाह्निक पर्व कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ इन मासों की शुक्ल पक्ष की अष्टमी से लेकर पूर्णिमा तक आठ दिनों तक के लिए वर्ष में तीन बार आता है। जिसमें भव्यात्माएं व्रत, संयम के साथ नन्दीश्वरद्वीप के बावन चैत्यालयों सम्बंधी जिनबिम्बों की उत्तम रीति से पूजा किया करती हैं। देवगति के देव भी विक्रिया से अपना उत्तम शरीर बनाकर नंदीश्वर द्वीप जाकर नंदीश्वर द्वीप के चैत्यालयों की बड़ी श्रद्धा-भक्ति से पूजा रचाया करते हैं।

षोड़शकारण पर्व पूजा :- षोड़शकारण पर्व एक वर्ष में माघ, चैत्र और भाद्रपद इन मासों में पूरे महिने भर के लिए आता है जिसमें भव्य लोग व्रत संयम के साथ तीर्थंकर के समवसरण का ध्यान करते हुए तीर्थंकर प्रकृति के बंध के कारण स्वरूप दर्शन विशुद्धि आदि षोडश कारण भावनाओं की आराधना में तत्पर रहते हैं।

दशलक्षण पर्व पूजा:- दशलक्षण पर्व वर्ष में माघ, चैत्र और भाद्रपद मास में शुक्ल पक्ष की पंचमी से लेकर चतुर्दशी तक के लिए आता है, जिसमें (या भाद्रपद मास के दशलक्षण पर्व में) प्राय: सभी भव्यात्माएं व्रत नियमों के साथ अपनी शक्ति को न छुपाते हुए उत्तम क्षमादिक दशलक्षण धर्मों की उपासना, भक्ति किया करती हैं।

पंचमेरु पूजा :- इस ढाईद्वीप के अन्तर्गत जम्बूद्वीप धातकीखण्ड द्वीप और पुष्करार्ध द्वीप, सम्बंधी पाँच सुमेरु पर्वतों में जो भद्रसाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक ऐसे चार-चार वन कहे गए हैं एवं जिन चारों वनों की चारों दिशाओं संबंधी चार-चार चैत्यालयों की गणना से एक-एक मेरु में सोलह-सोलह चैत्यालय होते हैं, जिनमें सुमनोग्य, वीतरागमय जिनेन्द्र भगवान के अकृत्रिम बिम्ब विराजमान हैं। जिनकी भक्ति-पूजा विद्याधर सामान्य मनुष्य और देव यथा अवसर उत्तम रीति से किया करते हैं। ऐसे पंचमेरु सम्बंधी चैत्यालयों की पूजा करने का प्रचलन प्राय: दशलक्षण पर्व के प्रारंभ के पांच दिनों के समय चला आ रहा है जो बहु पुण्य बंध और पाप कर्म की निर्जरा का उत्तम साधन है। ऐसे महान अवसर पर जब पुण्यात्माएं भगवान की भक्ति में तल्लीन होती हैं तब उनके रोम-रोम खड़े हो जाते हैं और अगर उन्हें उन साक्षात् जिन बिम्बों के दर्शन का लाभ हो तो कितना अलौकिक शान्ति-सुख का आस्वादन होगा; वचनों से कह नहीं सकते।

रत्नत्रय पूजा :- मुक्ति के साधक स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं। ये महान अमूल्य अलौकिक रत्न हैं। ये संसार समुद्र तरने के लिए अपूर्व नौका सदृश हैं, ये मोक्ष महल पहुंचाने हेतु सीढ़ी के समान हैं। और ये आत्मा की मौलिक निधि-सम्पदा हैं तथा जिनके बिना ज्ञान व चरित्र समीचीनता को प्राप्त नहीं होते, ऐसे उत्तम रत्नत्रय को वीतरागता का उपासक ही प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार अष्टांग सहित सम्यग्दर्शन की, अष्टांग सहित सम्यग्ज्ञान की एवं तेरह प्रकार के सम्यक्चरित्र की जो भव्य अतिशय विनय पूर्वक उपासना-पूजा करता है, वह उन रत्नत्रय का धारक हो अत्यल्प काल में मोक्ष का भाजक होता है।

सिद्धचक्र विधान पूजा :- एक संसारी आत्मा सिद्धात्मा अर्थात् सिद्ध परमेष्ठी कैसे बनती है। सिद्ध परमेष्ठी बनने तक की मंगल यात्रा का वर्णन जिसमें होता है और सिद्ध पद पाने के लिए आठ दिनों तक उस महान आत्मा के गुणों के गान रूप जिसमें पूजा की जाती है उस वैभव से युक्त पूजा को सिद्धचक्र विधान पूजा कहते हैं।

इन्द्रध्वज विधान पूजा :- जिनेन्द्र भगवान की जो पूजा सौधर्म आदिक इन्द्रों के द्वारा बड़े वैभव के साथ रचाई जाती है ऐसी महान जिन महिमा को प्रकट करने वाली पूजा इन्द्रध्वज पूजा कहलाती है। इसे मनुष्यगण भी देवों जैसा रूप ले जिनेन्द्र भगवान के वीतराग गुणों का गान करते हुए रचाया करते हैं। यह पूजा लगभग दस या पन्द्रह दिन तक लगातार की जाती है।

सर्वतोभद्र विधान पूजा :-समवसरण में विराजमान सर्वत: अर्थात् चारों ओर से भद्र अर्थात् मनोज्ञ दिखने वाले ऐसे अरहंत तीर्थंकर की जो महा पूजा की जाती है वह सर्वतोभद्र विधान पूजा कहलाती है यह पूजा लगभग तेरह या पंद्रह दिन तक लगातार रचाई जाती है।

कल्पद्रुम विधान पूजा :- जिस पूजा को भगवान के साक्षात् समवसरण में किमिच्छक (मुंह मांगा) दान देता हुआ चक्रवर्ती रचाया करता है। जिसमें समवसरण की विभूति सहित तीर्थंकर के वीतरागमय गुणों के गान रूप पूजा की जाती है, न कि समवसरण में स्थित सरागी देवी-देवता राजा या तिर्यञ्चादिक की, वह कल्पद्रुम विधान पूजा कहलाती है। जिस पूजा में तीर्थंकर के अलावा समवसरण में विराजमान सात प्रकार के निर्ग्रन्थ मुनियों की भी पूजा की जाती है। आज भी लोग उस पूजा की नकल रूप में समवसरण की रचनाकर मण्डल विधान रूप में कल्पद्रुम पूजा किया करते हैं। जो दस से पंद्रह दिन के बीच की जाती है।

वीतराग परम देव के गुण अनन्त हैं जिनके पूजादिक रूप में सम्पूर्ण रूप से बखान करना समुद्र को भुजाओं से तैरने के समान बड़ा कठिन है परन्तु उनके अनन्त गुणों में बड़ी श्रद्धा रखकर उनके प्रदर्शित मार्ग पर चलकर हम उन्हें या उनके उत्तम गुणों को अवश्य पा सकते हैं।

वीतराग जिनेन्द्र प्रभु की पूजाओं के नाम अनेक हैं और अनेक ढंग से उनके गुणानुस्मरण आत्माएं किया करती हैं। यहाँ पर तो केवल कुछ ही विशेष पूजाओं के वर्णन का महत्व संक्षिप्त रूप में कहा गया है जिसका विशेष रूप से वर्णन आचार्यों द्वारा

उपदिष्ठ जैनागम से जानना चाहिए। यहाँ पूजा के संबंध में यही महान विशेषता जानना चाहिए कि जैसे गृहस्थ दिन-प्रतिदिन वस्त्र में लगे मैल को स्वच्छ-निर्मल जल से धो लेता है उसी प्रकार प्रतिदिन वह अपने कर्मों को वीतरागी उन परमेष्ठी की पूजा, सेवा द्वारा धोता चला जाता है। अत: पाप कर्म को धोने एवं पुण्य अर्जन हेतु गृहस्थों के लिए दान, पूजा एक प्रमुख साधनरूप माने गए हैं।

जब कर्म बंध के तराजू में पाप का पलड़ा भारी हो जाता है, और पुण्य कर्म का पलड़ा ऊपर चला जाता है तब अनेक विघ्नों व कष्टों का सामना आत्मा को करना पड़ता है। उस विकट परिस्थिति में भगवान की पूजा गुणानुस्मरण जैसे कार्यों से पाप कर्म का क्षय एवं पुण्य के पलड़े को भारी कर आत्मा अवश्य एक दिन सुखी समृद्ध हो धार्मिक कार्यों को करने के लिए निश्चिंत व उत्साहित हो जाती है। जो दान, पूजा रूप उत्तम कार्य अस्थिर मन को स्थिर कर देता है, पापी मन को पावन कर देता है, अज्ञानांधकार को दूर कर ज्ञान चक्षु प्रदान कर देता है। और कहाँ तक कहें कि वह पूजनादिक कार्य पूजक को भी पूज्य बना देता है। जैसे पुण्य के योग में धनी के निकट रहने वाला निर्धन भी एक दिन धनी बन जाता है। पारस मणि के संसर्ग से लोहा भी सोना बन जाता है। उसी तरह भगवान की भक्ति या पञ्च परमेष्ठी के समागम से एक संसारी आत्मा भी सिद्ध भगवान सदृश परम शुद्ध-पावन बन जाती है। अनन्त अक्षय सुख में लीन हो जाती है। यही जिन भक्ति व पूजा की महा महिमा है। अस्तु।

देश में हिंसा का वातावरण तैयार हो रहा है

- मुनि आर्जवसागर

आज देश में निरंतर हिंसा का वातावरण निर्मित हो रहा है। चारों ओर हिंसा ही हिंसा हो रही है। जब किसी प्राणी को मारोगे, तो उसके मुख से आह निकलती है। वही आह अनेक प्रकार के प्राकृतिक प्रकोप लेकर आती है। देश में निरंतर बूचड़खाने खुलते जा रहे हैं, उसमें हजारों प्राणी निरंतर काटे जा रहे हैं। उन प्राणियों का करुण क्रंदन जब आह के रूप में वायुमंडल से टकराता है, तो पृथ्वी के अंदर कंपन पैदा होता है, जिससे भूकंप आदि प्राकृतिक उपसर्ग आते हैं। दैनिक जीवन में निरंतर पाप की क्रिया होती है, जिससे निरंतर पाप का बोझ बढ़ता जा रहा है और आत्मा पतन की ओर अग्रसर होती जा रही है। यदि सुखी रहना है तो 'परोपकाराय पुण्याय, पापम पर पीड़नम्' सूत्र को अपना लो। यह अहिंसा धर्म का निचोड़ है, यह समस्त धर्मग्रंथों का सार है।

जगत हितंकर जैन धर्म

श्रीमत् परम गम्भीर स्याद्वादामोघ लाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्य नाथस्य शासनं जिन शासनम्॥

अनाद्यनिधन इस संसार में संसारी आत्मा अनादि काल से सुख-दु:ख का वेदन करती हुई बीज वृक्ष की परम्परा के सदृश विधिफल के अनुसार चतुर्गति के भ्रमण में संलग्न है। और इस संसार चक्र से अतीत आत्मा की एक अवस्था है जो है मोक्ष। जैसे कि बीज पहले या वृक्ष पहले इस समाधान से अनिर्णीत वृक्ष, बीज की परम्परा अनादि से हैं लेकिन अन्त सहित है। अगर ऐसे बीज को जलाकर भस्म कर दिया जाए तो उस जले बीज से वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती; अन्त हो जाता है। वैसे ही ध्यान, तप धर्म रूपी अग्नि से कर्म विनष्ट हो जाने पर संसार भ्रमण की या पुनर्जन्म की परम्परा का अन्त हो जाता है। वह आत्मा दुग्ध की अन्तिम अवस्था घृत के समान परम विशुद्ध बन सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लोक शिखर पर स्थित सिद्धशिला पर सिद्ध परमेष्ठी के रूप में अनन्त काल के लिए विराजमान हो जाती है। इस संसार चक्र से निकलकर मोक्ष अवस्था को प्राप्त होने में धर्म पुरुषार्थ ही परम सहायक माना गया है। अत: पूर्वाचार्यों ने कहा है कि सकल संसारी जीवों को जो इस संसार के दु:ख से उठाकर उत्तम सुख में रखने की सामर्थ्य रखता है वह जगत हितंकर जैन धर्म है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि-

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसार दु:खतः सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे॥2।।

- र.क.श्रा.

अर्थ- मैं उस श्रेष्ठ धर्म का कथन करता हूँ जो कर्म (पापादिक) का नाश करने वाला है एवं संसार दुख से जीवों को उठाकर स्वर्ग, मोक्ष के उत्तम सुख में रख देता है।

विश्व धर्म की आधार शिला अहिंसा

संसार के धर्म नाम से कहे जाने वाले जितने भी संप्रदाय हैं उन सभी में अहिंसा की प्रमुखता है, जिस दृष्टि या अपेक्षा से सभी धर्मों में समानता ठहरती है।

अहिंसा को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है जैसे-दया, अनुकम्पा, अभयदान, वात्सल्य, करुणा, रहम, परोपकार, उपग्रह, क्षमा और जीव रक्षण इत्यादि। इन उपर्युक्त शब्दों में बाह्य शाब्दिक दृष्टि से कुछ भेद होते हुए भी सभी का अन्तरंग समान है। सभी

का भाव जीवों को कष्ट से बचाकर सुख प्रदान करना है। अहिंसा; धर्म का प्राण है। जैसे-प्राण के बिना प्राणी का जीवन नहीं, नींव के बिना इमारत नहीं, और जड़ के बिना वृक्ष नहीं ठहर सकता वैसे ही अहिंसा, दया के बिना धर्म रूपी महल या वृक्ष नहीं ठहर सकता अत: आचार्यों की, महापुरुषों की उद्घोषपूर्ण वाणी है कि-

'धर्मस्य मूलं दया'

'धम्मो दया विशुद्धो'

दया धर्म का मूल है। धर्म दया से विशुद्ध है। अतएव जहाँ अहिंसा या दया नहीं वहाँ धर्म की शुरूआत ही नहीं, अहिंसा के बिना धर्म का कथन कागज पुष्प के समान धर्म शब्द की नकल मात्र है। अत: निष्कर्ष यही है कि 'अहिंसा परमो धर्म:', अहिंसा ही परम उत्कृष्ट धर्म है।

कथनी करनी एक समान

हमारे पूर्वज महापुरुषों ने जैसा कथन किया है वैसा ही धर्मानुसार आचरण भी किया है। जीवात्मा का कर्त्तव्य क्या है-

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' (त.सू. 5/21) अर्थात् परस्पर (एक दूसरे) में एक दूसरे का उपकार करना प्राणी मात्र का धर्म है। इसी तरह अहिंसा का धर्म से गहरा सम्बंध बतलाते हुए महाभारत में कहा गया है कि-

मद्य मांसाशनं रात्रौ भोजनं कंद भक्षणं।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां, तीर्थ यात्राजपस्तपः॥

अर्थात्- जो शराब पीते हैं, मांस खाते हैं, रात्रि भोजन करते हैं, कंदमूल का भक्षण करते हैं, उनकी तीर्थ यात्रा, जप, तप करना सब व्यर्थ है।

रामायण में भी कहा गया है कि-

न मांसं राघवो भुंक्ते, न चैव मधु सेवते।
वन्यं सुविहितं नित्यं, भक्तमश्नाति केवलं॥

(सुन्दर काण्ड 36/41)

अर्थात्- वे राघव वंशी (राम) कभी मांस सेवन नहीं करते, और न ही मधु (शहद) का सेवन करते हैं। वे तो शुद्ध शाकाहार भोजन करते हुए जंगल में विचरण करते हैं। धन्य ऐसे महापुरुषों का जीवन जो मांस खाना तो दूर रहा घास पर चलने में तथा ऐसे वचनों में भी हिंसा समझते हैं जिनसे किसी आत्मा के मन को कष्ट पहुँचे। वे

मुनि मार्ग में ध्यान की प्रसिद्धि हेतु एवं सब तरह के परिग्रह की आशाओं की शान्ति के लिए वस्त्रों का भी त्याग कर देते हैं। इन्हीं महापुरुषों, मुनियों के जीवन को देखकर हमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप उन महान त्याग भावों से उत्तम सीख लेकर अपनी आत्मा को परिशुद्ध बनाना चाहिए। राम, ईश्वर आदि महानात्माओं का नाम लेने वालों के मुख से माँस (अण्डा, मछली आदि) का सेवन या जिस मुख से मांस का सेवन उसी अपवित्र मुख से भगवान के नाम लेने में क्या शोभा है? क्या ऐसा करने से अहिंसक देवता लोग प्रसन्न होंगे? तो इसका उत्तर 'नहीं' ही मिलेगा। इस प्रकार सद्गति का भाजक बनने हेतु अहिंसा धर्म के साथ अपनी कथनी-करनी एक होना ही श्रेयस्कर है।

दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो शाकाहार ही सबसे अधिक शक्तिशाली एवं सद्भावनाओं का उद्भावक है। लेकिन जिन लोगों की मांसाहार के प्रति ऐसी धारणा है कि इसमें शक्ति अधिक पाई जाती है तो उन्हें सोचना चाहिए कि बड़े-बड़े शक्तिशाली हाथी, घोड़ा, गाय आदि का भोजन क्या है? वे केवल शुद्ध शाकाहारी हैं। उन्हें केवल पत्तियों और घास का आहार पर्याप्त होता है; उनका जीवन उसी से चलता है। हाथी जैसे वजन को उठाने में अन्य प्राणी सक्षम नहीं। मशीनों की परीक्षा घोड़े की शक्ति से (हार्स पावर से) ही करते हैं सिंह आदि की शक्ति से नहीं। ऐसे उन हाथी, घोड़े आदिक में ऐसी अद्भुत शक्ति कहाँ से आती है तो मात्र शाकाहार से आती है। केवल पत्ती और घास खाने मात्र से ही जिनका शक्तिपूर्ण जीवन हो सकता है तो क्या मनुष्य के लिए तरह-तरह के फल, सब्जी, धान्य, मेवा आदिक से भरपूर शक्ति नहीं मिल सकती? अवश्य मिल सकती है। लेकिन फिर भी मांसाहार किया जाना केवल अनार्यपने के साथ जिह्वा की लोलुपता या तामसिक वृत्ति का ही परिचायक है। उसके साथ शुद्ध धार्मिक विचार कैसे आ सकते हैं? एवं पवित्र ध्यान की प्राप्ति कैसे हो सकती है? और अपने जीवन के लिए अपनी आत्मा जैसी सुख-दु:ख संवेदना के धारक दूसरे जीवों के जीवन को समाप्त कर क्या प्राणी इह-परलोक में शान्ति-सुख से रह सकते हैं? तो कभी नहीं रह सकते।

इसके अलावा जब मांसाहारी जीवों से मनुष्य की शारीरिक रचना (दाँत, नख, आंत, पूँछ बिना आदि) ही अलग है तब कैसे यह माँसाहार मनुष्य के योग्य हो सकता है? कभी किसी तरह भी नहीं।

अण्डा भी शाकाहार नहीं कहा जा सकता क्योंकि नर, मादा के रज, वीर्य

जिसमें हों तथा जिसके अन्दर जीव की (पञ्चेंद्रिय जीव की) उत्पत्ति हो ऐसा अण्डा कैसे शाकाहार हो सकता है किसी तरह भी कदापि नहीं। और भी करुणा की दृष्टि से विचार करें तो एक माँ अपने बच्चे के पैदा होने के पहले से ही भावना भाती है कि बच्चा पैदा होने के बाद हम उसे प्यार से पाले-पोसेंगे लेकिन अण्डे का सेवन कर उसके बाहर आने के पहले ही उसे समाप्त कर दिया जाए तो उस माँ की हालत क्या होगी? दु:ख का पार नहीं रहेगा, चाहे वह अण्डे की माँ हो या बच्चे की।

जिन जीवों की, किन्हीं हिंसक या मांस भक्षी व्यक्तियों की चेष्टाओं द्वारा हिंसा की जाती है उनकी या उनकी जननी (माँ) की आहें हिंसक को सुखी कैसे रहने देगी? उस हिंसक का वह महापाप किसी-न-किसी दुर्घटना (एक्सीडेन्ट) आदि या दुर्गति में अंगहीन, लूले, लंगड़े, अंधेपन या दरिद्रपन में महादु:ख से ही निकलेगा। इसीलिए तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पञ्च पापों में हिंसा को प्रथम बड़ा पाप माना है। लेकिन कोई श्रावक विरोधी हिंसा का त्यागी न हो और उसे कोई मारे तो वह उसके बदले में मारने वाले को (स्वद्रव्य या धर्म रक्षा के भाव से) मारे तो बड़ा पाप नहीं माना जैसे दुराचारी रावण का मारा जाना। लेकिन बेकसूर प्राणियों को मारना या उनके माँस का सेवन करना कितनी बड़ी क्रूरता है? क्या इस नादानी से नरक ही निदान न होगा? किसी अनुभवी पूर्वज कवि ने कहा है-

तिल भर मछली खाय के, कोटी गौ दे दान।
काशी करवट ले मरे, तो भी नरक निदान॥

अत: वृषभादि महावीर पर्यन्त तीर्थंकरों, राम, हनुमान, बुद्ध, अल्ला, ईश्वर, गाँधी जैसे अनेक अहिंसा के उपासकों जैसा अहिंसा धर्म, शाकाहार अपने जीवन में लाकर शान्ति और सद्गति का मार्ग अपनाना ही भला होगा।

निर्दोषी परमात्मा का स्वरूप

प्रत्येक सम्प्रदाय में उस सम्प्रदाय का कोई-न-कोई उपदेशक अवश्य हुआ है और वह जितना निर्दोषी हो वह उतने ही श्रेष्ठ धर्म के कथन करने में सामर्थ्य युक्त माना गया है। आगम में अठारह दोष गिनाए गए हैं-

छुह तण्ह भीरु रोसो, रागो मोहो चिंता जरारूजा मिच्चू।
सेंद खेद मदोरइ, विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥6।।

आ.कुन्दकुन्द-नियमसार

क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, स्वेद (पसीना), खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग।

उपर्युक्त इन अठारह दोषों से रहित संसार परिभ्रमण से मुक्त अरहंत परमात्मा होते हैं, जो परमात्मा अपनी दिव्यध्वनि द्वारा भव्यात्माओं के लिए हिंसादिक पाप कार्यों से भरे इस संसार से मुक्त होने का उपदेश देते हैं और पुरुषार्थी आत्मा ऐसे उपदेश को सुनकर तदनुसार मोक्षमार्ग पर चलकर एक दिन उन निर्दोष अरहंत भगवान जैसी उत्तम अवस्था को प्राप्तकर संसार और शरीर से रहित मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

इस जगत में विश्व हितंकर धर्म का कर्ता सच्चा ईश्वर वही होता है जो भक्त आत्माओं के लिए भी अपने जैसे पद को प्राप्त करा दे। जिस सम्प्रदाय में भक्त तो हमेशा भक्त ही बना रहे और ईश्वर सबका (सृष्टि का) कर्त्ता, धर्त्ता आदि बना रहे यह ईश्वरत्व को नकारने वाली बात ईश्वरत्व के प्रति आस्तिकता की सूचक न होकर नास्तिकता की ही कोटी में आ जाती है।

ईश्वर धन, वैभव पुत्रादिक देने वाला सुख का कर्त्ता है। कभी वही ईश्वर रोग, शोक, दु:ख दरिद्रता देने वाला है। ब्रह्मा जगत की सृष्टि करता है। विष्णु जगत का रक्षक है, महेश (रुद्र) सृष्टि का विनाशक है इत्यादि मान्यता यह सब मिथ्या कल्पना है इसी भाव को तेजोविन्दूपनिषद में भी कहा गया है कि-

रक्षको विष्णुरित्यादि, ब्रह्मा सृष्टेस्तु कारणम्।
संहारे रुद्र इत्येवं, सर्वं मिथ्येति निश्चिनु॥

ते.वि.उ. 5/51-52

जो कोई देवता, ईश्वर या विष्णु ब्रह्म आदिक किसी का अच्छा या बुरा करता है तो वह रागी-द्वेषी ठहरा। और राग-द्वेष का करना यह ईश्वरत्व का लक्षण नहीं। क्योंकि राग द्वेष सह किसी का अच्छा-बुरा करते हुए सांसारिक कार्यों में उलझने वाला स्वयं आत्मिक सुख शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। फिर दूसरों को सुखी कैसे करेगा। और यदि कहें कि वही जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही ईश्वर उसे सुख-दुख देता है। तो फिर कर्म बीच में आने से ईश्वर का कुछ काम ही नहीं रहा। यह कार्य तो कर्म सिद्धान्त पर आधारित हो गया। जैसे जो जीव कर्म (पुण्य-पाप) करता है वैसा सुख-दु:ख स्वयमेव पाता चला जाता है। जहाँ जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही (ऊँचे-नीचे प्रकार का) फल या धान्य वहाँ प्राप्त किया जाता है। अगर स्वयं पुण्य किए

बिना दूसरा कोई कुछ देने लग जाए एवं पाप किए बिना कोई कुछ हड़पने लग जाए तो स्वयं के द्वारा पूर्व में किया गया कर्म (पुण्य-पाप) निरर्थक हो जाए। जबकि ऐसा कभी नहीं होता। निज कृत कर्मानुसार ही फल होता है जैसा कि पूर्वाचार्यों ने स्पष्ट कहा ही है-

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयंलभते शुभाशुभं।
परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥ 30॥

-आचार्य अमितगति मुनि विरचित द्वात्रिंशतिका

अत: कर्त्ता धर्त्ता रूप मिथ्या भावों, मान्यताओं को छोड़कर हमें सच्चे मोक्ष सुख की प्राप्ति हेतु वीतराग अर्हन्त के मार्गानुगामी बनकर धर्म, मोक्ष पुरुषार्थ में संलग्न होना चाहिए।

अनेकान्त-मय जैन धर्म

संसार की प्रत्येक वस्तु अनेक गुण धर्मात्मक मानी गई है जिस कारण उसमें अनेकान्त धर्म की सिद्धि होती है। जैसे कि कहा ही है "अनेके अन्ता: धर्मा: यस्मिन् स अनेकान्त:"।

अनेक गुण धर्मों को अपनी अपेक्षानुसार अर्पित-अनर्पित (मुख्य-गौण) करके स्वीकार करना ही स्याद्वाद धर्म कहलाता है। जैसे एक व्यक्ति एक पुत्र की अपेक्षा पिता है तो भाई की अपेक्षा भ्राता भी, पत्नी की अपेक्षा पति भी और पिता की अपेक्षा बेटा भी है इत्यादि। इसी प्रकार एक वस्तु द्रव्यत्व की अपेक्षा शाश्वत है, तो पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत भी है। और अपेक्षा स्वीकारे बिना हर जगह एक व्यक्ति को पिता रूप या बेटा रूप ही मानना या वस्तु को केवल ध्रौव्य रूप या नाशवान ही मानना एकान्त है। जो मिथ्या है। अत: अपेक्षा सहित वस्तु में अनेक धर्मों की स्वीकृति अनेकान्त है। स्याद्वाद का अर्थ है कथञ्चितवाद जिसे अपेक्षावाद या सापेक्षवाद भी कहा जाता है।

उपर्युक्त अनेकान्त स्याद्वाद धर्म अर्पित-अनर्पित की अपेक्षा वस्तु में अनेक धर्मों की सिद्धि करता है। जहाँ बेटा की अपेक्षा पिता पर्याय अर्पित (मुख्य) है वहाँ दूसरी भाई पर्याय अनर्पित (अमुख्य गौण) होती है। इसी तरह आत्मा के ज्ञान गुण की अपेक्षा जहाँ जानने योग्य पर्याय मुख्य होती है वहाँ देखने योग्य कार्य या पर्याय गौण है इत्यादि। एक अवस्था की मुख्यता होने से दूसरी पर्याय है ही नहीं ऐसा नहीं लेकिन दूसरी पर्याय उस समय छुपी हुई होती है।

तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के 'अर्पितानर्पिते सिद्धे:' इस मार्मिक सूत्र से जैन धर्म की

यह अनेकान्त स्याद्वादमय शैली सब तरह के विवादों को दूर कर सच्चे पथ को उद्घाटित कर देती है। यही जैन धर्म की बड़ी विशेषता है। अनेकान्त या स्याद्वाद धर्म का सार यही है कि एकान्त में 'ही' (अकेलापन) है अनेकान्त, स्याद्वाद में 'भी' (सामञ्जस्यपन) है 'भी' का पेट बहुत बड़ा है। जिसमें एक वस्तु के सभी वस्तु धर्म गर्भित या समाहित होते हैं। इसी सन्दर्भ में गुरुवर आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के द्वारा रचित एक पद्य मनन करने योग्य है। जो इस प्रकार है-

'ही' से 'भी' की ओर यदि बढ़ें सभी हम लोग।
छह के आगे तीन हो, विश्व शान्ति का योग॥

तीन के आगे छह (36) का आंकड़ा किसी एक अपेक्षा से विरोध का प्रतीक होता है तो छह के आगे तीन (63) का आंकड़ा सहयोग का प्रतीक है, एक दूसरे का पूरक है। 63 रूप अनेकान्त धर्म का आंकड़ा सभी वस्तु धर्मों के सामञ्जस्यपने से सहित होने से विश्व शान्ति का कारण होता है।

विभिन्न धर्मों में जैन धर्म

जैन धर्म में अहिंसा और अनेकान्त की प्रधानता होने के कारण इसकी महानता को बड़ा आदर्श रूप मानते हुए प्राय: सभी सम्प्रदायों ने इस जैन धर्म को तथा उसके उपदेष्टा तीर्थंकरों को बड़े गौरव की दृष्टि से देखते हुए अपने-अपने साम्प्रदायिक ग्रन्थों में प्रशंसनीय और स्तुत्य माना है। जैसे कि महाभारत में प्रथम तीर्थंकर की स्तुति रूप में लिखा है कि-

पुरनस्तत्रैव सर्वज्ञः सर्वदेव नमस्कृतः।
छत्रत्रयाति संयुक्तः पूज्यमूर्तिरसौवहन्॥1॥
परमात्मानमात्मानं लसत्केवलनिर्मलम्।
निरञ्जनं निराकारं ऋषभं तु महेद् वृषभ॥2॥

अर्थात् वृषभ देव सर्वज्ञ थे सब देवों से नमस्कृत थे, तीन छत्रों में शोभायमान थे, और पूज्य मूर्ति थे। निर्मल केवलज्ञान से सुशोभित थे ऐसे परमात्मा, निरञ्जन, निराकार, श्रेष्ठ वृषभ की पूजा करनी चाहिए।

महापुरुष तीर्थकरों की जन्म भूमि रूप देश का नाम भारत कैसे पड़ा इसके सन्दर्भ में मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि-

अग्नीन्ध्र सूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूतसुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः॥69॥
सोऽभिषिंच्यर्षभः पुत्रं महाप्राब्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमशंसयः॥40॥
हिमाव्हं दक्षिण वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मास्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥41॥

अर्थात् अग्नीन्ध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ नामक पुत्र हुआ। ऋषभ से भरत का जन्म हुआ जो कि अपने सौ भाईयों से बड़ा था। ऋषभ देव ने अपने बड़े पुत्र भरत का राज्य अभिषेक करके स्वयं प्रब्रज्या (साधुदीक्षा) ग्रहण की और तप करने लगे। भगवान ऋषभ देव ने भरत को हिमालय पर्वत से दक्षिण का राज्य दिया था, इस कारण उस महात्मा भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

इसी तरह अग्नि पुराण में भी लिखा है कि–

ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्माद् भारतं वर्षं भरतात्सुमतिस्त्विभवत्॥12॥

अर्थात् मरुदेवी माँ से ऋषभ का जन्म हुआ। ऋषभ से भरत की उत्पत्ति हुई और भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।

श्रेष्ठ आराध्य और सम्यग्दर्शन

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः।
रूपमुपसदामेततिस्त्रो रात्रीः सुरासुता॥14॥

–यजुर्वेद अ. 19

अर्थात् अतिथि, मास उपवासी, नग्न मुद्रा धारक भगवान महावीर की उपासना करो जिससे तीन प्रकार के (कुमति, कुश्रुति और कुवधि रूप) अज्ञान अंधकार रूपी रात्रि पैदा न हो। सम्यग्दर्शन का लक्षण आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि–

श्रद्धानंपरमार्थाना माप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढ़ापोढ़-मष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥4॥

–रत्नकरण्डक श्रावकाचार

अर्थ– परमार्थभूत अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र गुरु का तीन मूढ़ताओं से रहित आठ अंगों से सहित और आठ प्रकार के मदों से रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहलाता है।

इसी तरह आचार्य कुन्द-कुन्द देव कहते हैं कि–

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारह दोस वज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥1॥

–मोक्ष पाहुड

अर्थ– हिंसा रहित धर्म, अठारह दोषों से रहित देव, निर्ग्रन्थ मुनि एवं प्रवचन (समीचीन शास्त्र) में श्रद्धान करने से (व्यवहार) सम्यग्दर्शन होता है।

मिथ्यात्व का परिहार आवश्यक है

सुगाढ़ मिथ्यात्व को मूढ़ता की कोटि में गिनाते हुए आचार्य कार्तिकेय स्वामी कहते हैं कि–

जई देवो वि य रक्खइ, मंतो तंतो य खेत्तपालो य।
मियमाणंपि मुणुस्सं, तो मणुया अक्खया होंति॥25॥
एवं पेच्छन्तो वि हु, गह भूय पिसायजोइणी जक्खं।
सरणं मण्णई मूढो, सुगाढ़ मिच्छत्त भावादो॥27॥

अर्थ– यदि मरते हुए मनुष्य की क्षेत्रपालादिक देव, मंत्र और तन्त्रादिक रक्षा करने में समर्थ होते तो यह मनुष्य अक्षय हो जाता। इस तरह संपूर्ण संसार को शरण रहित देखता हुआ यह मूढ़ प्राणी तीव्र (सुगाढ़) मिथ्यात्व के भाव से ग्रह, भूत, पिशाच, योगिनी, चण्डिका तथा यक्षादि की शरण को मानता है।

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा देव के सदृश यक्ष-यक्षिणी आदिक (भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क रूप भवनत्रिक आदिक के) सरागी देवों की अभिषेक पूजा, आरती, स्तुति आदिक करने वालों की होने वाली गति के संबंध में आगम ग्रन्थों में कहते हैं कि–

देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः।
समं पूजा विधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः॥ 240॥

–यशस्ति तिलक चम्पू (अ.8)

अर्थ–तीनों जगत (लोकों) को देखने के लिए नेत्र स्वरूप अरहंत देव को तथा व्यन्तरादिक सरागी देवों को जो पूजा विधान में समान देखता (मानता) है वह बहुत दूर नीचे जाता है (बहुत दूर नीचे क्या है? नरक, निगोद ही है)।

जैन धर्म में जैनियों के लिए मोक्षमार्गी भेष या लिंगों का कथन करते हुए कहा

गया है कि-

एगं जिणस्य रूवं बीयं उक्किट्ठ सावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंग दंसणं णत्थि॥18॥

-दर्शन पाहुड

अर्थात् जिनमत में तीन ही लिंग बतलाए गए हैं। प्रथम लिंग जिनेन्द्र भगवान के रूप वाला निर्ग्रन्थ लिंग, द्वितीय उत्कृष्ट श्रावकों (ऐलक-क्षुल्लक) का लिंग और जघन्य स्थान में स्थित आर्यिकाओं एवं क्षुल्लिकाओं का तृतीय लिंग है। इनके अतिरिक्त कोई चौथा लिंग जिनमत या जिनदर्शन में स्वीकार नहीं किया गया है (मठाधिपति के भेष का जिनागम में कथन नहीं)

सम्यग्दृष्टि जीवों को त्रिमूढ़ताओं से बचने के लिए समीचीन शास्त्रों में कहा गया है कि-

भयाशा स्नेह लोभाच्च कुदेवागम लिंगिनाम्।
प्राणामं विनयंचैव न कुर्य्युः शुद्धदृष्टयः॥30॥

अर्थ-निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा, स्नेह ओर लोभ से भी कुदेव (सरागीदेव), कुशास्त्र (सरागियों द्वारा कल्पित शास्त्र), कुगुरु (परिग्रही मिथ्यात्वी गुरु) को नमस्कार और विनय भी न करें।

सच्चा दृढ़ धर्मी तो ऐसा विचार करता है कि- जिस आत्मा ने हिंसादिक पंच पापों को त्याग नहीं किया उसकी पूजा नमस्कार आदि क्रिया करने से जैसे गन्दे जल में वस्त्र धोए जाने से वस्त्र शुद्ध होने की बजाय अशुद्ध ही होता जाएगा। इसी तरह गंदे दर्पण में मुख देखे जाने से मुख के दाग नहीं दिख सकते और न मुख को साफ-सुथरा बनाया जा सकता है। वैसे ही जिस उपास्य का जीवन राग, द्वेष, पति-पत्नी, काम-वासना की भावना, वस्त्रालंकार और धनादिक के प्रति मोह से मैला-कुचेला हो रहा है उसकी उपासना आदिक से उपासक लोग अपनी आत्मा रूपी कपड़े को या मुख को शुद्ध बनाने की बजाय केवल पाप से ही लेपते चले जाते हैं।

एतदर्थ जगत में समीचीन धर्म मार्ग में दृढ़ होने के लिए और जगत हितंकर जैन धर्म का प्रकाश करने के लिए वीतरागियों निर्ग्रन्थों द्वारा रचित सत्साहित्य का पठन कर हठाग्रह छोड़ तदनुसार आचरण बनाकर आत्माएं अपने बहुमूल्य मानव जीवन को सुख, शान्ति की समृद्धि, अनुभूति सह सफल बनाएं यही मेरी मंगल भावना है।

संस्कार का प्रभाव

जिनधर्म का संस्कार शिवसुख के लिए और पाप का संस्कार भव दुःख के लिए होता है। अतः आज की भव्य बाल एवं युवा पीढ़ी के जीवन में धर्म संस्कार की बड़ी आवश्यकता है। इस संसार में प्रत्येक आत्मा कोई-न-कोई अच्छे या बुरे संस्कार से संस्कारित अवश्य है। बचपन अवस्था से जैसे विचार वाले पारिवारिक या सामाजिक लोगों का संपर्क मिलता है वैसा मानव का धार्मिक या अधार्मिक जीवन बनता है। धर्म संस्कार हेतु जहाँ अनेक पुरुषार्थ करने पर भी कार्य की सिद्धि नहीं होती वहाँ पूर्व कृत पाप कर्म की मुख्यता समझी जाती है। पाप कर्म के उदय से आत्मा पर पड़े हुए अधर्म के संस्कार को सद्धर्म के माध्यम से बदला जा सकता है और पुण्य से प्राप्त हुआ धार्मिक संस्कार बुरी संगति से अधार्मिक भी हो सकता है।

इस संसार में जितनी भी आत्माएँ दुःखी अवस्था से सुखी अवस्था को प्राप्त हुई हैं वे सभी अहिंसा परमो धर्म व रत्नत्रय धर्म के संस्कार के माध्यम से ही सुखी अवस्था को प्राप्त हुई हैं। कहा भी गया है कि 'धरतीति धर्मः' जो संसार के दुःख से उठाकर स्वर्ग, मोक्ष, सुख के स्थान में रख दे उसे धर्म कहते हैं। हमारे जैन शास्त्रों में धर्म को अनेक नामों से पुकारा गया है।

धम्मो वत्थु सहावो, खमादिभावो य दस विहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

-स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा

वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमादिक भाव रूप दस प्रकार का धर्म है रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) धर्म है तथा जीवों की रक्षा करना धर्म है।

आगे निश्चय दृष्टि से 'चारित्तं खलु धम्मो' मिथ्यात्व कषाय से रहित मुनियों का समता भाव रूप चारित्र ही धर्म है ऐसा आचार्य कुन्द-कुन्द ने प्रवचनसार ग्रन्थ में कहा है।

आज का लौकिक, भौतिक विज्ञान; जो कि वीतराग विज्ञान से बिलकुल शून्य है; जितनी उन्नति करता जा रहा है उतनी ही मानव में चारित्र या धर्म संस्कार की कमी देखी जा रही है इसका कारण पञ्चेन्द्रियों के विषयों की असीमित उपलब्धि एवं धर्म के संस्कार का अभाव ही जानना चाहिए।

पञ्चेन्द्रियों के जितने विषय प्राणी को उपलब्ध होते हैं उतनी ही राग-द्वेष की जनक इच्छाएँ बढ़ती ही चली जाती हैं और राग-द्वेष ही कर्म बंध में प्रमुख कारण है। पाप कर्म के बंध से संसारी आत्माएँ इस संसार में अनेक दुर्गति, निर्धनता और रोगोत्पत्ति इत्यादिक यातनाओं को प्राप्त करती हैं।

साक्षात् तीर्थंकरों के समय जिस धर्म का महान प्रभाव होता है उनके अभाव में भी संख्यातों वर्ष तक उस सद्धर्म का प्रभाव परम्परा रूप से चलता रहता है। और सद्धर्म की ध्वजा फहराती रहती है। इस पंचम काल में भी भगवान महावीर के तीर्थ में इन्द्रभूति गौतम गणधर और उनके पश्चात् केवली, श्रुतकेवली एवं आचार्य कुन्द-कुन्द व स्वामी समन्तभद्र जैसी अनेक आत्माएँ अहिंसा परमोधर्म का अनुपालन करती रहीं और ऐसी ही असंख्यात आत्माओं ने आदिनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों की धर्म गंगा में स्वयं अवगाहित होकर उसको हम तक पहुँचाया है। हमारा परम कर्तव्य होता है कि ऐसी धर्मगंगा में हम भी अवगाहित होकर उसका अलौकिक आनन्द प्राप्त करें और अनुपम शान्ति सुख का अनुभव करें।

मानव जन्म को पाना एक प्रकार के पुण्य कर्म का फल है और जैन धर्म को पाना कई जन्मों के पुण्य का फल है तथा जैन धर्म के नियमानुसार चलकर त्याग, संयम के माध्यम से अपनी आत्मा को विशुद्ध बना लेना बड़े श्रेष्ठ पुण्य एवं पुरुषार्थ का फल माना है।

प्राय: संसारी आत्माएँ जिस गति या पर्याय को प्राप्त होती हैं उसी जगह वैषयिक क्षणिक सुख से प्रभावित होकर उन्हें बड़ी तृष्णा से भोगने में आसक्त हो जाती हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं हो पाता कि ऐसे इन्द्रिय विषय जनित क्षणिक सुख इस आत्मा को अनन्तों बार प्राप्त हो चुके हैं। परन्तु इन विषयों को भोगने से पुन: उत्पन्न होने वाली इच्छाओं का समापन नहीं हुआ और न ही पूर्ण तृप्ति, शान्ति का अनुभव हुआ है।

बल्कि इन्हें छोड़ने या इनका त्याग करने से ही तृप्ति शान्ति-सुख का अनुभव होता है। अग्निकुण्ड में जितना भी ईंधन डाला जाएगा उतनी ही अग्नि अत्यधिक प्रज्ज्वलित होती चली जाएगी। उसका समापन नहीं होगा। जैसे रावण के लिए मंदोदरी जैसी सुन्दर-सुन्दर सोलह हजार रानियाँ प्राप्त हुई थीं परन्तु फिर भी सती सीता के प्रति आशा या तृष्णा उत्पन्न हुई और पर वस्तु के मोह से दुर्गति का फल पाया। युग के आदि में बाहुबली, भरत चक्री से विजित होने के बाद भी इन्द्रिय सुख से विरक्त हो दिगम्बर

मुद्रा धारण कर आत्मा में लीन हो गए थे तभी उन्हें महाशान्ति का अनुभव हुआ था और एक वर्ष की घोर तपस्या से कैवल्य की उपलब्धि हुई थी। तात्पर्य यह हुआ, रावण सदृश अनेक तरह से इन्द्रिय विषयों की पूर्ति करने पर भी नवीन इच्छाओं की शान्ति नहीं, बल्कि तीर्थंकरों और महामुनीश्वर बाहुबली भगवान, सुकुमाल, गजकुमार एवं जम्बूस्वामी जैसी आत्माओं के द्वारा इन्द्रिय विषयों से आशा, मोह छोड़ देने पर ही इस आत्मा को वास्तविक या आत्मिक सुख-शान्ति का अनुभव हुआ करता है।

धर्म-संस्कार के अभाव में आज की दुनिया केवल विषय-सुखों को, भोग-विलासता को, अवगुणता में स्वात्म प्रशंसा को, पदवी आशा, मिथ्या भेष और ख्याति, लाभ, पूजा में वास्तविक सुख की कल्पना कर रही है यह मृग मरीचिका जैसी स्थिति विषय-भोगी को नियम से दुर्गति के गर्त में पहुँचा देती है।

मानव का इन्द्रिय विषयों में स्वाद लेना एक तलवार की धार पर लगी मीठी वस्तु को जिह्वा से चखने के समान क्षणिक सुख के साथ-साथ पाप बंध और दुर्गति रूप महा कष्ट में अपने को आकण्ठ डुबोना है। अपने अमूल्य जीवन के क्षणों को एवं अल्प जीवन को व्यर्थ गमाना है तथा विषयान्ध व कामान्ध बनकर चार्वाकादि अजैन मतों में कथित-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

जितना जीना है सुख से जियो ऋण करके भी घी पियो क्योंकि इस शरीर के नष्ट हो जाने पर पुन: आगमन कहाँ? वाले सिद्धान्त को चरितार्थ करना है। इसका मुख्य कारण धार्मिक संस्कार के अभाव के कारण आस्तिकपने का अभाव समझना चाहिए।

इन्द्रिय विषय के सुख के सम्बंध में प्रवचनसार में कहा है कि-

सपरं बाधा सहिदं विच्छिण्णं बंध कारणं विसमं।
जं इन्द्रियेहिं लद्धं, तं सौख्य दु:ख मेव तहा॥176॥

जो इन्द्रियों से उत्पन्न सुख है वह पराधीन है, बाधा से सहित, स्वल्प समय में ही समाप्त हो जाने वाला, पाप कर्म के बंध का कारण और परिवर्तनशील (क्षणभंगुर) रूप होने से दु:ख ही है ऐसा जाना चाहिए।

उपर्युक्त धर्म के सम्बंध में कुन्द-कुन्दाचार्य द्वारा कथित धर्म का चिन्तन धर्म

से संस्कारित आत्मा में ही आ सकता है जो संस्कार प्राय: बचपन में दिया जाता है। जब बच्चा योग्य गृह में जन्म पाता है तब बच्चे को जन्म देने वाले माता-पिता उस बच्चे के प्राथमिक गुरु हुआ करते हैं।

वे जैसा चाहें अच्छा या बुरा वैसा जीवन अपने बच्चे का बना सकते हैं। क्योंकि निमित्त के अनुसार उपादान की जागृति होती है ऐसा भी आगम का कथन है। बच्चों के जीवन का विकास एक द्राक्ष (अंगूर) की लता के सदृश वृद्धिगत होता है। जैसे-द्राक्ष की लता जब वृद्धि की ओर जाने लग जाती है तब उसे विवेकी लोग योग्य दिशा में ले जाने हेतु लकड़ी या रस्सी का सहारा देते हैं और योग्य दिशा या स्थान में पहुँचकर वह लता सरलता से फलित होती है। अगर उसे ऐसा सहारा न दिया जाए तो वह अयोग्य दिशा में जाने के बाद व कठोर अवस्था को प्राप्त हो जाने के बाद उसमें परिवर्तन करना असंभव या बहुत कठिन होता है। उसी तरह बच्चों का हृदय बचपन अवस्था में कोमल (मृदु) होता है, उसे हम जैसा मोड़ना चाहें वैसा मोड़ सकते हैं। सद्धर्म का संस्कार दे सकते हैं। जिससे वह बड़ा होने पर श्रेष्ठ धर्मी सुखी बन सकता है। अगर माता-पिता ने अपनी संतान को बाल्यावस्था में सद् संस्कार नहीं दिए तो प्राय: बच्चे धर्म से विपरीत दुसंगति से बुरे व्यसनों के मार्ग में चले जाते हैं तब उन्हें उस कुमार्ग से मोड़ना बड़ा कठिन होता है। वे धर्मियों की धर्म शिक्षा या उपदेश की भी उपेक्षा करने लग जाते हैं।

महाराष्ट्र प्रदेश की बात है कि एक व्रती महिला अपने जवान बेटे के साथ आकर बोली कि महाराज जी! हमारे बेटे को जुआ खेलने का त्याग करा दीजिएगा।

तब ऐसा सुनते ही मुझे आश्चर्य सा हुआ और मैंने उस माँ से कहा, ''अरे! आप तो व्रती (प्रतिमाधारी) महिला हैं और आपका बेटा जुआ कैसे खेलता है? क्या आपने उसे बचपन में धर्म से संस्कारित नहीं किया?''

इसके उत्तर में वह माँ बोलती है ''महाराज जी, यह मेरी भूल रही किन्तु अभी बहुत समझाती हूँ, लेकिन यह बेटा सुनता ही नहीं है, यह बुरी संगति में पड़ गया है अत: आपके समझाए जाने पर ही समझ सकता है।''

उस समय मैंने उस बेटे से कहा कि, ''देखो! तुम्हारी माँ कितनी धर्मी हैं और ऐसी धर्मी माँ को तुम ऐसे बुरे व्यसनों में आसक्त होकर क्यों कष्ट देते हो। तुम्हें अपने

एवं परिवार के जीवन को सुखी बनाने हेतु जुआ खेलने का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि जुआ ऐसा बुरा व्यसन है जो सारे परिवार एवं स्वयं के जीवन को नष्ट कर देता है। तथा जुआ मात्र एक व्यसन के साथ मानव थोड़े ही दिनों में सारे व्यसनों में आसक्त हो जाता है।''

ऐसा समझाए जाने के उपरान्त वह बेटा बोलता है, ''महाराज, हमारे इस नगर के थोड़े दूर जो सिद्ध क्षेत्र (मुक्तागिरी) है; वहाँ आज से दस वर्ष पूर्व एक बड़े मुनि संघ का आगमन हुआ था और उस समय मैं छोटी (बाल्या) अवस्था में था। तब हमारी माँ ने उन महाराजों के पास ले जाकर इन बुरे व्यसनों के त्याग का नियम क्यों नहीं दिला दिया था? जिससे कि आज यह समस्या न आ पाती। मेरे माता-पिता द्वारा बचपन में धर्म संस्कार न दिलाए जाने से मैं बुरी संगति में पड़ गया हूँ और अब जुए का व्यसन इतना गहरा हो गया है कि उसका छूटना बड़ा मुश्किल है।''

इसके बाद मेरे द्वारा ऐसा कहे जाने पर कि तुम्हारी मन शुद्धि नहीं है अत: तुमसे एवं तुम्हारे गृह में आहर दान का कार्य नहीं हो सकता। तब उस बेटे ने पश्चाताप करते हुए आजीवन के लिए जुआ खेलने का त्याग कर दिया।

जिस तरह माता-पिता द्वारा धर्म संस्कार दिए जाने पर सन्तान अगर धर्मी बने तो सन्तान धर्म के माध्यम से जितना पुण्य कमाती है उसका छठवाँ भाग (छह भागों में से एक भाग के बराबर भाग) उसके माता-पिता को प्राप्त होता है। उसी तरह अगर माता-पिता के अधर्म या पाप के संस्कार से अपनी सन्तान अधर्मी, व्यसनी बने तो यहाँ भी पाप का छठवाँ भाग उन्हें मिलेगा ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि अच्छे या बुरे कार्यों की कृत, कारित, अनुमोदन का फल तो शास्त्रों में कहा ही गया है।

अत: उपर्युक्त विषय का तात्पर्य यही हुआ कि बच्चे जब प्राथमिक अवस्था में होते हैं तभी उन्हें अंगूर की लता के सदृश सम्हालना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए कहा जाता है कि धर्म का संस्कार बचपन अवस्था में दिया जाता है, न कि पचपन में। ऐसा धर्म का संस्कार एक जीवन में अन्त तक मात्र रहता है ऐसा नहीं, कई जन्मों तक धार्मिक वातावरण सुख-सामग्री को प्रदान करता है, यहाँ तक कि अन्य छोटी-बड़ी आत्माओं पर अपना प्रभाव डालता हुआ शीघ्रातिशीघ्र जन्म-मरण की परम्परा का अन्त तक सिद्ध परमात्मा बना देता है।

अनेकान्तमय शास्त्र ज्ञान से एवं कर्म सिद्धान्त से अनभिज्ञ जन कह सकते हैं कि माता-पिता तो निमित्त मात्र हैं, वह निमित्त या कोई एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता फिर किसी पर, किसी के द्वारा संस्कार देने की बात ही नहीं होती।

उनका ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य रूप नहीं हो सकता यह सत्य है। लेकिन कारण बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं, साधन बिना साध्य की प्राप्ति नहीं यह सिद्धान्त का अटल नियम है, अतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर अपना प्रभाव भी अवश्य दिखला सकता है या सहायक बन सकता है। अगर ऐसा न होता तो-

❖ एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर कुछ भी परिणाम (प्रभाव) न मानने वाले आज सिद्धालय में अवश्य विराजमान होते। परन्तु वे आज यहां पर चतुर्गति संसार में भ्रमण करते देखे जा रहे हैं। और यहाँ संसार में रूके रहने का कारण क्या है? तो आत्मा के स्वभाव से भिन्न पर द्रव्य रूप उन जड़ अचेतन अष्ट कर्मों का संयोग ही यहाँ संसार में रूके रहने का कारण या निमित्त है।
❖ मयूर की आवाज सुनते ही चन्दन के वृक्ष पर लिपटे हुए सर्प बन्धन को छोड़कर बिलों का आश्रय क्यों ले लेते हैं?
❖ अग्नि का संयोग होने पर जल उष्ण क्यों हो जाता है?
❖ सूर्य उदय होते ही कमल वन क्यों विकसित हो उठता है?
❖ चन्द्र के पूर्ण खिलने पर समुद्र का जल क्यों उछलने लगता है?
❖ भोजन के उपलब्ध न होने पर सरागी प्राणी को विशेष आकुलता क्यों होती देखी जाती है?
❖ किसी परिवार में किसी व्यक्ति की आयु समाप्त होने पर सरागियों की आँखों में आँसू क्यों देखे जाते हैं?
❖ किसी के द्वारा अनिष्ट वचन कहे जाने पर सरागियों के लिए अप्रसन्नता एवं इष्ट जड़ वचनों से प्रसन्नता क्यों होती है?
❖ ओजस्वी निर्दोष वक्ता का प्रभाव और ओजस्वहीन या सदोषी वक्ता का प्रभाव लोगों पर अधिक-कम क्यों देखा जाता है?
❖ आयतनों को छोड़कर अनायतनों के दर्शन का निषेध क्यों किया जाता है?
❖ पर द्रव्य की क्रिया रूप जिनवाणी की उपासना, स्वाध्याय करने का एवं उपदेश देने का क्या प्रयोजन है?

❖ भगवान के दर्शन से और णमोकार मंत्र से जप इत्यादिक धार्मिक क्रियाओं से बहु कर्मों का क्षय होता है ऐसा जिनागम में क्यों कहा गया है?

इस प्रकार अनेकान्त की दृष्टि (निश्चय, व्यवहार एवं द्रव्य, पर्याय की अपेक्षा) से विचार करने पर इन सब प्रश्नों का उत्तर यही होता है कि एक दूसरे द्रव्यों की सहायता बिना कार्य-कारण, साध्य-साधन एवं निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध की व्यवस्था नहीं बन सकती, अतः आचार्य कुन्द-कुन्द देव ने नियमसार ग्रन्थ में कहा है कि-

सम्मत्तस्स णिमित्तं, जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अन्तर हेऊ भणिदा, दंसण मोहस्स खय पहुदी॥ 7॥

अर्थात् जिन भगवान, सूत्र (शास्त्र) और ऐसे शास्त्र को जानने वाले निर्ग्रन्थ वीतरागी गुरु ये सम्यग्दर्शन के बाह्य निमित्त हैं। तथा दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम और उपशम होना सम्यग्दर्शन के अंतरंग निमित्त कहे गए हैं।

निमित्त को उदासीन और प्रेरक के भेद से दो तरह का जानना चाहिए। जैसे मछली को चलने में तालाब या कुए का जल या रेल को चलने में पटरी उदासीन निमित्त है। उसी तरह गाड़ी के चलाए जाने में गाड़ी का चालक एवं शिष्य के लिए सन्मार्ग के आज्ञा प्रदाता साक्षात् गुरु प्रेरक निमित्त कहलाते हैं।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न के उत्तर से निमित्त की सार्थकता समझ में आ सकती है कि अष्ट कर्मों से रहित परम शुद्धावस्था को प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी इस लोकाकाश से ऊपर क्यों नहीं जा पाते ऐसा प्रश्न पूछे जाने पर इसका उत्तर यही होता है कि लोकाकाश के ऊपर उदासीन निमित्त रूप 'धर्मास्तिकायाभावात्' धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव होने से वे सिद्ध परमेष्ठी लोकाकाश से ऊपर अलोकाकाश में नहीं जा पाते उनकी गति में रुकावट आ आती है। देखिए निमित्त के अभाव में अनन्त शक्तिशाली आत्मा भी पीछे रह जाती है अन्यथा अनन्त शक्ति से सम्पन्न सिद्ध परमेष्ठी को अलोकाकाश में अवश्य जाना चाहिए था। अतः निमित्त या कारण रूप एक दूसरे द्रव्य की सहायता मिले बिना कार्य नहीं हो सकता ऐसा समझना चाहिए।

धर्म संस्कार के प्रभाव से मुनि बन शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि में अपने सकल कर्मों को भस्मसात् करने वाले निकल परमात्मा का धर्मास्तिकाय रूप साधन या निमित्त से लोक शिखर तक पहुँचकर जिस स्थान पर ठहरना होता है वह सिद्धालय

कहलाता है। मध्य लोक संबंधी मनुष्य लोक के 45 लाख योजन से ही सिद्धि को प्राप्त करने वाले वे सिद्धात्मा ऋजु गति से ऊर्ध्वगमन कर 45 लाख योजन वाली सिद्धशिला पर हमेशा के लिए विराजमान हो जाते हैं। वे अनन्त गुणों के भण्डार परम वीतरागी शिव, सत्य रूप होते हैं। वास्तविकता, सहजता या स्वाभाविकता को प्राप्त करना ही सत्य का गहना है।

जो सभी पाप कलंकों व संसार विकल्पों से रहित हो गए हैं जिस कारण उनकी आत्मा स्वच्छ दर्पण या निस्तरंग जल के सदृश हो गई है, वे सत्य रूप हैं और ऐसे सत्य पर श्रद्धा रखने से हम सत्य की पहचान कर लेते हैं एवं हमें अपना रत्नत्रयमय वास्तविक वैभव ज्ञात हो जाता है। उनके गुणों के चिन्तन से व तदनुसार आचरण करने से अपने वास्तविक गुण प्रकट होने लग जाते हैं। हमारे जीवन पर जो अधर्म का संस्कार पड़ गया था वह मेघ पटल हटने से सूर्य उदय होने की भाँति दूर हटकर हमारी आत्मा धर्म से संस्कारित होने लग जाती है। अत: ऐसे ही परम सत्य मय वीतराग परमात्मा के गुणों की उपलब्धि करने हेतु हम अपने आपको रत्नत्रयमय वैभव से सम्पन्न कराते हुए धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ के बल से मुक्तात्मा बन उत्तम शाश्वत सुख में लीन हो जाएं। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' सत्य ही शिव है और सुन्दर है जिसमें समान सत्य से शिव और शिखमणि सम सुन्दर बन जाएं।

एकाग्रता के लिए सात्विक आहार जरूरी

भोजन हमारे ध्यान पर प्रभाव डालता है। भोजन तीन प्रकार के होते हैं सात्विक, राजसिक व तामसिक। स्वादिष्ट पकवान व व्यंजन राजसी भोजन हैं। इस प्रकार के भोजन से हमारा मन एकाग्रचित नहीं हो सकता है। मन की एकाग्रता के लिए आहार सात्विक होना चाहिए। अत्यधिक मिर्च-मसाला, मांस-मदिरा तामसिक भोजन है। इस प्रकार के भोजन का सेवन करने वाले कभी भी ध्यान में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। संत केवल एक बार भोजन ग्रहण करते हैं। गृहस्थों को दो बार भोजन करना चाहिए। अनेक बार भोजन करने से इंद्रियां अनियंत्रित हो जाती हैं। साथ ही स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

ज्ञानामृत से आत्मिक तृप्ति

हमारे आचार्यों ने आत्मिक तृप्ति का उपाय ज्ञानामृत पान बतलाया है। बाहरी पञ्चेन्द्रिय के विषयों से हम शरीर एवं इन्द्रियों को तृप्त कर सकते हैं लेकिन आत्मा हमेशा विषय चाह की दाह में आशाओं के ईंधन से जलती रहती है। हमारे जैनाचार्य कहते हैं कि हे आत्मन्! तू विषय की चाह की दाह में जलने से बचना चाहती हो तो भगवान और निर्ग्रन्थों की वाणी में, शास्त्रों के स्वाध्याय में अपने को लीन कर तभी आत्मा से धर्मात्मा, परमात्मा बनाने वाले ज्ञानामृत के पान का फल तुझे मिल सकेगा।

बड़ी विचारणीय और चिंता की बात है कि जिन आचार्यों ने अपनी आत्मा के ध्यान से बाहर आकर हम सबके उपकार हेतु अपनी परंपरा से चले आ रहे आगमिक ज्ञान को ग्रंथों में गूंथित किया, लाखों ग्रंथों की रचना की और जो ग्रंथ आज भी हजारों संख्या में उपलब्ध हैं तथा जीवन भर जिनका स्वाध्याय किया जाए तो भी उनके स्वाध्याय हेतु जीवन अत्यल्प है, फिर भी कुछ लोग जैन होकर कितने अनभिज्ञ एवं अश्रद्धालु हैं कि जीवन भर में दो चार ग्रंथों का भी पठन पूर्ण नहीं कर पाते हैं। अगर उन ग्रंथों में लिखे श्लोकों, गाथाओं और सूत्रों को विषय-वासना छोड़कर एक शक्कर की गोली के सदृश चूसा जाए तो उसका आनन्द एक अपूर्व ही होगा।

इसी तरह जो पुरुषार्थी जिनवाणी रूप सद्गुरुओं के वचनों को बड़े उल्लास व बड़ी विनय के साथ अमृत सदृश पान करता है उसके विषय में आगम ग्रंथों में कहा गया है कि-

तत्प्रति प्रीति चित्तेन येनवर्तामपि श्रुता।
निश्चितं स भवेद् भव्यो भावि निर्वाण भाजनं।।

पद्मनन्दी पंचविंशतिका।

अर्थात् जो प्रीति चित्त के साथ जिनवाणी या धर्मोपदेश को सुनता है वह निश्चित रूप से भव्य है और आगे निर्वाण (मोक्ष) का भागी होगा।

शास्त्र का ज्ञानार्जन करना किसी पुरुषार्थी को सरल हो सकता है लेकिन उस ज्ञानार्जन द्वारा प्रयोजन भूत वस्तु 'मोक्ष' को पाना एक मात्र किसी महापुण्यवान भव्यात्मा को ही हो सकता है; क्योंकि ज्ञान का लक्षण कहते हुए कहा गया है कि-

जेण रागाविरज्जेज्ज जेण सेये सु रज्जदि।
जेण मेत्तिं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे।।

–मूलाचार

अर्थात् जिसके द्वारा विषय राग छूट जाए, जिसके द्वारा श्रेयमार्ग रूप मोक्षमार्ग में रुचि जग जाए और जिसके द्वारा मैत्री की प्रभावना जागृत हो वह जिनशासन में ज्ञान कहा गया है।

बहुत अधिक शास्त्रों के पढ़ने से जीवन की शोभा नहीं; बल्कि थोड़ा भी पढ़कर जीवन और चर्या में उतारने से ज्ञानी के जीवन की शोभा होती है। फलों से रहित बहुत ऊँचे वृक्ष की अपेक्षा एक छोटा-सा फलों एवं पुष्पों से लदा वृक्ष अधिक सुशोभित होता है। आचरण से शून्य ज्ञान कागज के पुष्प के समान निस्सार माना गया है। जहाँ सच्चे वीतरागी देव, शास्त्र और गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा भक्ति है वहाँ भव्यता है और वहाँ ही धार्मिक ज्ञान की समीचीनता सह अष्टांगयुत सम्यग्दर्शन अणुव्रत, महाव्रत आदि के पालन रूप सम्यक्चारित्रपना भी प्रकट होकर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

नियम से वह ज्ञान त्याग, संयम की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि में कारण अवश्य होता है। आगम परम विरागी मुनीश्वरों द्वारा रचित है अत: आत्मा में वैराग्य की उत्पत्ति कराने वाला है। आगम ग्रंथों में कहा है कि –

''योग्योपादान योगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादि स्वादिसंपत्तावात्मनो प्यात्मता मता।।2।।

– इष्टोपदेश

स्वर्णपने की शक्ति रूप उपादान कारण मिलने पर (और अग्नि, धोकनी, स्वर्णकार आदि निमित्त कारण मिलने पर) जैसे स्वर्णपाषाण में स्वर्णपना प्रकट होना माना गया है उसी प्रकार आत्मा को भव्यता आदि उपादान कारण तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इत्यादिक निमित्त कारणों के मिलने से संसारी आत्मा को शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति रूप सिद्धत्व का होना माना गया है। कोई शंकाकार कहता है कि जब सुद्रव्य, सुक्षेत्र आदि के मिलने पर स्वयं परमात्म पद का लाभ होता है तब व्रत, संयम आदि के आचरण करने से क्या प्रयोजन है? पाप और पुण्य ये दोनों ही कर्म बंध के कारण हैं तब पुण्य रूप व्रत का उपदेश व्यर्थ है? इसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि–

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं।
छाया तपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ।।

– इष्टोपदेश

किसी कारण आत्मा को मोक्ष पद न मिल सके तो धर्म चर्चा करना, भगवान के पञ्चकल्याणक आदि करने, देखने के सौभाग्य रूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप व्रतों के पालन द्वारा देव पद पाना अच्छा है क्योंकि छाया में तथा धूप में बैठने वाले पुरुषों के समान व्रत और पापों का आचरण करके स्वर्ग में रहने वाले देवों और नरक में जाने वाले नारकियों में बड़ा भारी अन्तर है। अर्थात् वह पापी अशान्ति का कारण रूप नरक प्राप्त करता है और वह व्रती पुण्यात्मा (धर्मात्मा) विश्रान्ति हेतु मुक्ति के अभाव में स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। लौकान्तिक अहमिन्द्रादिक भी बन जाता है।

अध्यात्म को चाहने वाला योगी अपनी आत्मा के अलावा अन्य पदार्थों को कोई विशेष महत्व नहीं देता है। अपनी आत्मा के ध्यान के द्वारा कर्म बंध को रोककर कर्म निर्जरा करता रहता है। निश्चय की प्राप्ति होने पर व्यवहार स्वयमेव बाहर रह जाता है और एक समय जीव अन्य और पुद्गल अन्य अर्थात् भिन्न-भिन्न हो जाने पर वह मुक्ति श्री को भज लेता है।

धन्य! ऐसे महान शास्त्र और उनके श्लोक एवं उनकी गाथाएं जो अपने पेट में अनन्त अर्थ को गर्भित किए हुए हैं। उन्हें जितनी बार पढ़ा जाए उतनी बार हमें उसके अन्दर स्थित अर्थ का नया-नया रसास्वाद प्राप्त हो सकता है। अत: एक शास्त्र एक बार की अपेक्षा एक हजार आठ बार पढ़ेंगे तो फिर वह हमारे मन में कम्प्यूटर की मैमोरी अथवा वीडियो फिल्म की रील या पत्थर की लकीर के सदृश बन जाएगा। इन आचार्यों कृत शास्त्रों को एक चाकलेट या गोली की उपमा दी जाए तो बहुत अच्छा होगा क्योंकि चाकलेट या गोली को खाया नहीं जाता बल्कि धीरे-धीरे चूसा जाता है तभी उसके मीठेपन का रसास्वादन आता है। वैसे ही शास्त्रों को जल्दी-जल्दी नहीं; बल्कि धीरे-धीरे अर्थ में डूबते हुए कई बार पढ़ना चाहिए तभी उसके अर्थ रूपी रस का स्वाद हमें मिल सकता है तथा उसके लिखने वाले आचार्य के हृदय तक हम पहुंच सकते हैं। उनकी भावना या अभिप्राय को समझ सकते हैं। कई लोग कहते हैं कि प्रतिदिन नया-नया पढ़ना चाहिए और ऐसा कहते हुए निर्ग्रन्थों कृत शास्त्रों को एक बार पढ़कर छोड़ देते हैं तो उनका ''आगे पाठ पीछे सपाट'' होता चला जाता है। अत: जैसे नित्यप्रति

एक ही तरह के रोटी, चावल इत्यादिक के भोजन में आप रुचि रखते हुए भी उससे ग्लानि नहीं करते उसी तरह प्रतिदिन धर्म संबंधी वीतरागमय भक्ति, पूजा, प्रतिक्रमण, जप, महत्वपूर्ण वैराग्यपरक तत्त्व चर्चाओं और कथाओं इत्यादिक के सुनने एवं पढ़ने में अरुचि नहीं रखना चाहिए अपितु चौबीसों घंटे हमें स्व पर मन को धर्म में लगाते हुए पाप के चिन्तन से बचाते हुए षडावश्यक क्रियाओं और स्वाध्याय में लगाना चाहिए क्योंकि ये सब दैनिक धर्म संबंधी क्रियाएं उनके अर्थ को समझते हुए की जाती हैं तो हमारी आत्मा में अर्जित पाप मैल को धोती हुईं हमें वे पावन पुनीत बनाकर एक दिन भगवान समान बनाकर सिद्धालय में पहुंचा देती हैं। क्योंकि ज्ञान का फल संसार या विषय वासनाओं का अभाव है जैसे कि सर्वार्थसिद्धि में कहा ही गया है कि 'ज्ञानस्य फलं उपेक्षा' ज्ञान का फल उपेक्षा अर्थात् त्याग है। त्याग से ही आत्मा मोक्ष महल पाती है।

सच्चा ध्यान साधु को ही हो सकता है

मात्र ज्ञान प्राप्त करने से जीवन शोभा को प्राप्त नहीं होता। ज्ञान के साथ-साथ जीवन में चरित्र भी होना चाहिए। ज्ञान बीज की तरह है। उसमें चरित्र के पुष्प व फल भी उत्पन्न होने चाहिए। सच्चा ज्ञानी नियम से त्यागी बनता है। घर-गृहस्थी वाले लोग शून्य का ध्यान नहीं कर सकते। वे कितनी भी साधना कर लें, लेकिन उनका ध्यान शून्य तक नहीं पहुंच सकता। जब तक हमारा मोबाइल नेटवर्क से जुड़ा है, स्विच ऑन है, तो रिंग और वाइब्रेशन होता रहता है। हमें अपना मन पूर्ण स्थिर करने के लिए घर-परिवार, पद-पैसे से अपना संपर्क समाप्त कर लेना चाहिए। इसलिए ऐसा ध्यान सच्चे साधु को ही हो सकता है, गृहस्थों को नहीं। जो अपने जीवन में अत्यधिक परिग्रह संचित करने का भाव रखते हैं, उन्हें मर कर नरक में जाना पड़ता है।

आत्मिक दोषों का प्रक्षालन

अपनी आत्मा में जाग्रत अथवा अजाग्रत (सुप्त) अवस्था में अर्जित हुए पापों का प्रक्षालन होना आवश्यक है, तभी आत्मिक शुद्धि की प्राप्ति होती है। जैसे शरीर या वस्त्रों को जलादिक से प्रक्षालित कर लिया जाता है वैसे ही आत्मा को प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदिक से विशुद्ध करना चाहिए। ''तस्स मिच्छामि दुक्कडं'' मेरा वह अपराध मिथ्या (दुष्कृत) हो ऐसी भावना करना प्रतिक्रमण है। ऐसे प्रतिक्रमण में दोषों के प्रति किया गया पश्चाताप आगे होने वाले दोषों से भयभीत कराता है, बुरे भावों का परिमार्जन करता है। दोष लगा हो या न लगा हो; आज पंचम काल में सभी व्रतियों, साधुओं को प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। प्रतिक्रमण के कई भेद हैं जैसे रात्रिक, दैवसिक, ईर्यापथ, पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक इत्यादि। इन प्रतिक्रमणों के साथ निरतिचार रूप व्रतों की भावनाएं, आत्मिक निंदा, निर्ग्रन्थ पद की वाञ्छा, प्रायश्चित्त, परमेष्ठियों की भक्ति-स्तुति एवं समाधि की भावना इत्यादिक बातें जुड़ी हुई हैं।

प्रतिक्रमण मात्र में पापों का प्रक्षालन नहीं होता है; पापों के प्रक्षालन हेतु निर्ग्रन्थ वीतरागी सद्गुरुओं से प्रायश्चित्त को ग्रहण करना भी आवश्यक है। प्रायश्चित्त भी कई तरह के हैं जिसमें प्रतिक्रमण के समय निश्चित रूप से ग्रहण किया जाने वाला प्रायश्चित्त सामान्य है, लेकिन प्रतिक्रमण के पश्चात् गुरुभक्ति पूर्वक अज्ञात दोषों का भी प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है तथा ज्ञात दोषों का प्रायश्चित्त गुरु और आगम परंपरा से जो एक अलग रूप से ग्रहण किया जाता है। वह एक महान तप रूप माना है।

जो व्यक्ति अपने प्रमाद को हटाने का उद्यम नहीं करता है और अपने व्रतों की निर्मलता की ओर दृष्टि नहीं देता हुआ अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार से व्रत भ्रष्ट होकर अपने भव को ही बिगाड़ लेता है। जैसे एक भैंस; बाड़ी वाले खेत के पास से गुजरती हुई फसल को देखकर लालायित होती है, यह उसका अतिक्रम है और बाड़ तोड़कर या लांघकर खेत के अंदर घुस जाती है यह उसका व्यतिक्रम कहलाता है एवं दूसरे के खेत की फसल को खाने लग जाना यह अतिचार कहलाता है तथा तीव्र लालसा या गृद्धता के साथ खाने में लीन हो जाना या मारने पर भी अन्यत्र नहीं जाना यह अनाचार माना गया है। इसी तरह अन्य विषयों में भी जो अतिक्रमादि किए जाते हैं वे

व्यक्ति की आन्तरिक शुद्धि की हीनता या मलिनता को दर्शाते हैं । अतः ऐसी मलिनता से बचने हेतु प्रतिक्रमण या प्रायश्चित्त का आलम्बन लेना अनिवार्य है।

किसी व्यक्ति का कदाचित् किसी कार्यवश कोई व्रत थोड़ा दूषित हो जाए तो उसे पूर्ण रूप से छोड़ नहीं देना चाहिए बल्कि अपने व्रत को पूर्ववत् पालन करते हुए बीच में हुए दोषों का प्रायश्चित्त से उपचार कर अपने मार्ग में पूर्ववत् ही स्थित होते हुए अपनी विशुद्धि को अनवरत् बढ़ाना चाहिए ।

जो व्रतों को पूर्ण भंग कर देता है वह भंगी से भी गया बीता कहलाता है । जैसे किसी एक व्यक्ति ने उदाहरण सुनाया था कि एक झाड़ू लगाने वाली (मेहतरानी) एक बड़े रास्ते को पूरा पानी से धो रही थी तब किसी ने उससे पूछा कि तुम क्या कर रही हो? तो उसने कहा कि यहां से एक अशुद्ध व्यक्ति निकल गया है। फिर उसने पूछा कि तुम्हीं तो सबसे अशुद्ध हो, तुमसे अशुद्ध भी कोई होता है क्या? तो उसने कहा कि हां जो गुरु से व्रत लेकर उसे छोड़ देता है और मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है वह हमसे भी ज्यादा अशुद्ध होता है; वही यहाँ से निकल गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सभी को व्रतों की विधिवत् शुद्धि करते हुए अपने मार्ग में स्थिर रहना चाहिए। आज जो व्रती अपने दोषों के प्रक्षालन हेतु प्रतिक्रमण और गुरुओं से या आगमानुसार प्रायश्चित्त रूप तप को नहीं अपनाता है वह मायाचारी कहलाता हुआ दुर्गति का मार्ग खोजता है ऐसा समझना चाहिए और जो भव्य रात्रिक, दैवासिक आदि प्रतिक्रमणों को करता हुआ गुरु के समक्ष या आगमानुसार प्रायश्चित्त ग्रहण करता है वह मान कषाय को तजकर छोटे बालक के सदृश अपने दोषों की प्रतिक्रमणादिक के द्वारा आलोचना करने से व्रत संयम की वृद्धि करता हुआ उत्तम गति का भाजक होता है ।

प्रतिक्रमण से जितना पाप का भार दूर होकर हल्कापन महसूस होता है उससे हजार गुना प्रायश्चित्त लेने से तथा उससे लाख गुना उसको पूर्ण कर लेने से आत्मा में हल्कापन महसूस होता है। अतः जैसे महा ज्वर मिटाने के लिए चिरायता और गुरवेल का काढ़ा अत्यन्त लाभदायक होता है, उसी तरह प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त जन्म-जन्म के अर्जित पापों, दोषों को नष्ट कर आत्मा को परिशुद्ध निर्मल बना देते हैं जिससे एक दिन वह पवित्र आत्मा मुक्ति पथ के पथिक से परमात्मा बन हमेशा के लिए अपने चिदानंद में रम जाती है।

सादा जीवन उच्च विचार

जीवन की वास्तविक सुन्दरता शरीर की साज-सज्जा और धन वैभव से न होकर चारित्र से होती है। मानव का वेश, भूषा आदिक रूप श्रृंगार मात्र शरीर की शोभा बढ़ाता है, लेकिन सदाचारमय जीवन आत्मा का अलंकार बन आत्मा की शोभा बढ़ाता है ।

महापुरुषों द्वारा कहा भी गया है कि-

हस्तस्य भूषणं दानं, सत्यं कण्ठस्य भूषणं ।
श्रोत्रस्य भूषणं शास्त्रं, भूषणं किं प्रयोजनं ॥

अर्थात् अपने हाथ का आभूषण दान है, कण्ठ का आभूषण सत्य है और कानों का आभूषण शास्त्र है फिर अन्य (स्वर्णादिक के) आभूषण से क्या प्रयोजन है अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं।

जैसे अहिंसा परमो धर्म को आभूषण समझने वाले वे दीवान अमरचन्द जिन्होंने सिंह को जलेबी खिलाकर शाकाहारी बनाया था और अपने नाम को अमर बनाया था उनका वह अहिंसा सद्गुण रूप आभूषण सद्गति का कारण बना एवं उनका पवित्र जीवन जन-जन का आदर्श बना वैसे ही एक हुए हैं गोपालदास बरैया, जो एक बार सपरिवार रेल से यात्रा कर रहे थे कि अचानक रात्रि में बारह बजे उन्हें ध्यान आया कि मेरे पास बैठे मेरे इस पुत्र की उम्र अभी बारह वर्ष की पूर्ण हो चुकी है और मैंने इसकी आधी टिकट कटवाई थी अब अगर मैं इसी आधी टिकिट के साथ आगे रेल में यात्रा करता हूँ तो रेल को ठगूँगा; इसीलिये मुझे अब आगे वाली स्टेशन पर उतर कर पूरी टिकिट ले लेना चाहिए और वे अगले स्टेशन पर उतरे तथा पुत्र का पूरा टिकिट लेकर ही आगे की निर्विकल्पपूर्वक यात्रा संपूर्ण की। देखो ऐसा होता है धर्मात्माओं का जीवन! ऐसे धर्मात्मा लोग कभी स्वप्न में भी असत्य मार्ग का सेवन नहीं करते।

ऐसे ही थे वे राजा हरिश्चन्द्र जिन्होंने स्वप्न के समय अपना सारा राज्य देवों को दान में दे दिया था और प्रातः होते ही जब वे राज्य छोड़कर जंगल की ओर जाने लगे तब सेवकों ने पूछा कि आप कहाँ जा रहे हैं? तब उन्होंने कहा कि मैंने सारे राज्य का स्वप्न काल में दान कर दिया है अतः मैं अपने सत्य की रक्षा करने साधु बनने जंगल की

ओर जा रहा हूँ। ऐसा सुनते ही राज्य के सभी लोगों ने राजन् को राज्य में ही रहने का बहुत आग्रह किया लेकिन वे अपने त्याग पर अटल रहे तब सभी ने राजन् के सत्य की सराहना करते हुए एवं आश्चर्यचकित होते हुए राजन् के जीवन को धन्य माना। धन्य है ऐसा सत्य, जिसके माहात्म्य से देवों ने सती सीता की अग्नि परीक्षा के समय अग्नि कुंड में जल और कमल बनाया था।

जीवन में विश्वसनीयता बनाये रखने के लिए हमें किसी को धोखा नहीं देना चाहिए और न ही किसी की कोई वस्तु को अनुमति के बिना लेना चाहिए एवं न किसी अन्य व्यक्ति को देना या बेचना चाहिए; चाहे वह वस्तु रखी हो, पड़ी हो या भूली भी क्यों न हो; क्योंकि ऐसा कार्य चोरी में गर्भित होता है। एक बार सुना था कि गाँधीजी ने एक दिन ऐसा कहा था कि मैंने अभी तक कोई धार्मिक गुरु नहीं बनाया; और अगर अपना धार्मिक गुरु बनाऊँगा तो उसे ही बनाऊँगा जिसके जीवन में धर्म मात्र मंदिर तक सीमित न हो; बल्कि जो मंदिर को पाठशाला मानकर मंदिर में पढ़ाये गये सबक का जीवन के हर एक कार्य चाहे दुकान हो या व्यवसाय; घर हो या गली; हर जगह पालन करता होगा, एक बार उन्होंने श्रीमद् राजचन्द्र जैन के सम्बन्ध में ऐसा सुना कि उनके हीरे के व्यवसाय में मोल-भाव का सौदा हो जाने पर हीरे के भाव और अधिक बढ़ गये और दुकानदार ने लोभ भावना से कम दामों में माल देने से इन्कार कर दिया; तब श्रीमद् राजचन्द्र जी ने लोभ भाव छोड़ते हुए कोई वाद-विवाद नहीं किया और संतोष को धारण किया एवं कम दामों में अधिकृत हीरे के माल को वापिस लौटा दिया। इस घटना की चर्चा सुगन्धि-सदृश चारों ओर फैल गई जिसे गाँधीजी ने भी सुनकर उन्हें अपना गुरु स्वीकार किया; कि जिसके लौकिक जीवन में भी परमार्थ की साधना का लक्ष्य है वही मेरा धार्मिक गुरु है।

बुन्देलखण्ड का प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर है जहाँ से श्रीधर केवली ने मोक्ष प्राप्त किया था। वहाँ के मूलनायक आदिनाथ 'बड़ेबाबा' जगत प्रसिद्ध हैं। वे जिस मंदिर में विराजमान हैं उस मंदिर का जीर्णोद्धार करने वाला राजा; श्री छत्रसाल राजा था जिसने बड़े बाबा के मंदिर में अपने नामानुसार तीन छत्र भी प्रदान किए थे तथा तलहटी में एक वर्धमान सरोवर भी बनवाया था। उस राजा के ऐसे दान धर्म, श्रद्धा, भक्ति से स्वयमेव ज्ञात होता है कि वह कितना सादा जीवन उच्च विचार वाला होगा; जिसके जीवन की

एक अनोखी घटना है कि ऐसे बहु सुन्दर काया वाले राजा से एक रूपवान महिला प्रभावित होकर बोली कि हे राजन्! आप जितने बहु सुन्दर हैं इतना ही सुन्दर एक पुत्र मुझे प्राप्त हो, अत: आप मेरे भर्त्ता होवें अर्थात् मुझे अपनी पत्नी रूप में स्वीकार कर मेरे पति बनें, राजा बोला कि हे माँ! मैं ही तुम्हारा पुत्र हूँ, अत: आप ऐसा कुविचार छोड़ें। ऐसा सुनते ही वह महिला अति लज्जित और निरुत्तर होती हुई अपने स्थान पर चली गई। धन्य है ऐसे शील या ब्रह्मचर्य की महिमा कि जहाँ कामदेव को भी मुख मोड़कर पलायमान होना पड़ता है तथा धन्य हैं वे आत्माएं जो सेठ सुदर्शन जैसा निर्विकारी बन देवों से भी पूज्य बन जाती हैं।

अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने हेतु परिमित परिग्रह व्रत एक अच्छा साधन है; जिसे धारण कर विद्वानों ने गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी जिनधर्म से अपनी आत्मा की शोभा बढ़ाई है और समाज में आदर्शरूपता को प्राप्त किया है। इसी सन्दर्भ में एक मूर्धन्य विद्वान कपड़े के सामान (पगड़ी) का व्यापार करते थे और साथ में अणुव्रतों के अन्तर्गत परिग्रह का परिमाण रूप व्रत भी अंगीकार कर रखा था। एक बार रात्रि में शयन करते वक्त गृह में चार चोरों का आना हुआ; चोर समझ रहे थे कि सभी लोग निद्रा में डूबे हैं; लेकिन पण्डित जी तो जाग रहे थे। चारों चोरों ने अपना काम किया; कपड़े की चार पोटरियाँ बाँध लीं; दूसरे ने पहले चोर के सिर पर पोटरी रख दी और वह चलता बना, इसी तरह तीसरे ने दूसरे के सिर पर और चौथे ने तीसरे के सिर पर पोटरी रख दी सभी एक-एक कर अपने निश्चित स्थान की ओर चल दिये; लेकिन चौथे के सिर पर पोटरी को रखने वाला कोई नहीं था अत: पण्डित जी ने स्वयं वहाँ आकर अंधेरे में चौथे चोर की मदद कर दी, चारों चोरों के अपने स्थान पर पहुँचने के उपरान्त आपस में पूछे जाने पर कि किसने किसको पोटरी उठाई; तब चौथे चोर को पोटरी उठाने पर प्रश्न खड़ा हो गया। संदेह की स्थिति पैदा हुई और आखिर में यही निर्णय हुआ कि चौथे को पण्डित जी ने पोटरी उठा दी है; अब क्या किया जाए? जो इतने उदार हृदयवाले हैं कि चोरों को अपने ही धन-वैभव की पोटरी उठाकर दे सकते हैं ऐसा उनका वह शुद्ध कमाई का धन हम पचा सकेंगे क्या? बड़ी दुर्गति का कारण होगा वह धन; इसीलिए वापिस दे देना अच्छा है और चारों की सहमति पूर्वक चारों लोग दूसरे दिन ही चारों पोटरियाँ लेकर पण्डित जी की दुकान पर जा पहुँचे और बोलने लगे हे पण्डित जी! हमारी बड़ी भूल हुई कि आप जैसे पवित्र आत्मा के घर हम लोगों ने चोरी की ऐसी चोरी

करना हमने बड़ा अभिशाप या पाप समझा अत: हम सब आपसे क्षमा मांगते हैं और यह धन आपको ही वापस लौटाते हैं।

पण्डितजी बोले कि अरे अज्ञ प्राणियों यह धन जब मेरे गृह से बाहर जा रहा था तभी मैंने यह विचार किया था कि मेरा कुछ परिग्रह का भार उतर रहा है, अत: मैं इस जाने वाले परिग्रह से ममत्व हटाता हुआ इसका त्याग करता हूँ इसके पाप से मुक्त हो गया था और अब उच्छिष्ट के समान इसे पुन: कैसे ग्रहण कर सकता हूँ?

चोरों के बड़े पश्चाताप करने के उपरान्त पण्डित जी कहते हैं कि अगर तुम लोग चोरी करने का त्याग करते हो तो मैं तुम्हारे जीवन की आजीविका (व्यापार) हेतु तुम्हें ही कुछ अधिक धन मिलाकर आनंदपूर्वक देता हूँ और चोरी आदिक पाप व्यसनों को छोड़कर अपना जीवन सदाचारमय बनाओ। चारों चोर; बनारसीदास पण्डितजी से चोरी के त्याग का नियम लेकर पोटरियों को लेकर व्यापार करने चल दिए। धन्य है यह परिग्रह परिमाण की महिमा।

परिग्रह और पदवी की लालसा मानव की आत्मिक शान्ति भंग कर देती है। आत्मिक शान्ति एवं निर्विकल्पतामय जीवन जीने की इच्छा रखनेवाला मानव सुलभरूप से प्राप्त हो रहे अपनी आवश्यकता से अतिरिक्त वैभव को दूर से ही छोड़ देता है। ऐसे एक थे ख्याति प्राप्त विद्वान श्री सदासुखदास जी; जो एक राज्य शासन में राजकीय सेवारत थे। वे राज्य सेवा के अलावा सारा समय धर्मध्यान या देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान रूप षट् कर्मों में लगाया करते थे। एक दिन जब उन्होंने राज्य सेवा का वेतन कुछ अधिक पाया तो उनके मन को न भाया क्योंकि वे परिग्रह के परिमाणी थे अत: उन्होंने पूर्ण वेतन से अतिरिक्त वेतन को वापस लौटा दिया और मुख्याधिकारियों के द्वारा बहुत आग्रह किये जाने पर भी अतिरिक्त पैसा नहीं लिया। यह बात राजा के पास तक पहुँची, राजा ने उन विद्वान को बुलवाया और कहा कि आपकी प्रशंसनीय राज्यसेवा से आपका वेतन बढ़ाया गया है लेकिन आपने स्वीकार क्यों नहीं किया? तब उन विद्वान श्री सदासुखदास जी ने कहा कि मुझे जो वेतन मिलता था वही मेरे जीवन को चलाने, धर्म और गृह व्यवस्था हेतु पर्याप्त था अत: मैंने अधिक वेतन को स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं; मैंने एक परिग्रह के परिमाणरूप व्रत का बंधन बांध रख्खा है जो तोड़ना उचित नहीं समझता। तदुपरान्त राजा कहते हैं कि

बहुतायत लोग शिकायत करते हैं कि मेरा वेतन क्यों नहीं बढ़ाया गया, मैं इतना योग्य कार्य करता हूँ इत्यादि परन्तु आप जैसे निर्लोभी व्यक्ति मुझे अन्यत्र देखने के लिए नहीं मिलते; अच्छा! बतलाइए कि आपको राज्य से क्या दिया जाए; अपने मन की इच्छा प्रकट कीजिए।

पण्डितजी कहते हैं कि हे राजन् मुझे धन के स्थान पर मेरी राज्य सेवा का समय आधा कर दिया जाय जिस कारण मैं अपना बहुमूल्य समय जिनवाणी की सेवा और धर्मध्यान में लगा सकूँ। ऐसा सुनते ही राजा की अनुमति मिली, ऐसा ही होगा आप निश्चिंत रहें, अपनी धर्म की सेवा को अवश्य आगे बढ़ाएँ और पण्डितजी ने अतिरिक्त समय पाकर रत्नकरण्डक श्रावकाचार की टीका, समाधि मरण जैसे अनेक शास्त्रों की रचनाकर अपने बहुमूल्य समय का सदुपयोग किया। जिस व्यक्ति का जीवन निर्लोभता से पवित्र होता है उसे नगर में तो ठीक जंगल में भी कौन सहायी नहीं बनता अर्थात् जहां भी जाए उसकी रक्षा होती है तथा सामान्य लोगों की तो बात ही अलग बड़े-बड़े राजा और देव लोग भी उसके मित्र बन जाते हैं।

सुना जाता है कि ऐसे उन पं. सदासुखजी ने जब जीवन के अन्त में सल्लेखना (समाधिमरण) की साधना प्रारम्भ की तब उन्हें यह भान हो गया था कि मेरी मृत्यु इतने दिन बाद, इस दिन इतने बजे हो जाएगी और वैसा ही हुआ था, उन्होंने देशव्रतपूर्वक समता के साथ आहार जल का त्यागकर समाधिमरण को प्राप्त कर उत्तम गति को प्राप्त किया था। यही सादा जीवन उच्च विचार का माहात्म्य है।

सांसारिक नहीं, सच्चा सुख प्राप्त करो

आत्मा को कर्मों से मुक्त कर ही हम सच्चा सुख प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए ध्यान जरूरी है। महापुरुषों, तपस्वियों व ज्ञानियों ने ध्यान कर ही कर्म बंधन से स्वयं को मुक्त किया है। सच्चा सुख हर क्षण सुख प्रदान करता है, लेकिन सांसारिक सुख प्रारंभ में तो आनंद देता है, लेकिन अंत में दु:ख पहुंचाता है। पाप कर्म से दूर रहने का आह्वान करते हुए कहा कि कर्म का फल व्यक्ति को भोगना पड़ता है। तुम अच्छा कर्म करो, क्योंकि पाप कर्म से दु:ख, दरिद्रता व अशांति प्राप्त होती है।

घड़े की शिक्षा

मानव को शिक्षित करने में प्रकृति भी एक सहायक साधन है। हम भले ही यह सोचते हों कि प्रभु ही हमें मुक्ति का या परोपकार का मार्ग बताते हैं लेकिन ज्ञानियों के साथ-साथ उन वृक्ष, पर्वत, नदियों, पशु, पक्षियों और यहाँ तक कि मिट्टी जैसे पदार्थों से भी हमें धर्म का मार्ग प्रशस्त करने के लिए कुछ पाठ सीखने को मिलता है।

इस सन्दर्भ में हम एक उदाहरण के द्वारा मिट्टी एवं घड़े से मिलने वाली मोक्षमार्ग में उपयोगी शिक्षा को समझेंगे जिस रूपक के मध्य में हमें गुरुवर आचार्यश्री विद्यासागरजी द्वारा रचित 'मूकमाटी' कृति के कुछ संदर्भ भी स्मरण में आयेंगे एवं गुरु शिष्य का सम्बन्ध सद्गुरुओं का उपकार तथा संसार से मोक्ष की यात्रा का मंगलमय प्रसंग उपस्थित होगा।

एक बार की बात है, ग्रीष्म काल का समय था, एक सेठ को प्यास सताती है वह सोचता है कि अब मुझे घड़े की आवश्यकता है जिसके माध्यम से गर्म पानी को ठण्डा बनाया जाता है और स्वयं ही घड़ा लाने हेतु कुम्भकार के गृह की ओर चल देता है। कुम्भकार के गृह पहुँचते ही कुम्भकार सेठ को देखते ही उठकर प्रणाम करता है और कहता है आइए सेठ जी! सेवा का अवसर दीजिए।

सेठ जी - घट खरीदने आया हूँ।

कुम्भकार - हाँ लीजिए! ये घट आपके ही हैं; और सेठ जी आपको इतना कष्ट उठाने की क्या जरूरत थी किसी नौकर को ही भेज देते?

सेठ जी - हाँ भेज तो सकता था; लेकिन अपने मन की वस्तु पाने के लिए प्रत्यक्ष जाना उचित समझा।

सेठ जी ने एक घड़े को अपने हाथों में ऊपर ले लिया और उसे अपनी तर्जनी अँगुली से ज्यों ही बजाया तो उस घट से मधुर सप्त स्वर निकल पड़े सा रे ग म प द नी जिसका अर्थ सेठ जी को ऐसा भाषित हुआ कि जैसे आचार्यश्री (विद्यासागरजी) ने अपनी 'मूक माटी' कृति में लिखा है कि सारे 'गम' आत्मा के पद अर्थात् स्थान नहीं हैं; ऐसे उस कुम्भ (घड़े) के उपदेश से सेठजी बड़े प्रभावित हुए और वे उस कुम्भ से एक प्रश्न करते हैं कि -

हे कुम्भ! तुम्हारे पास ऐसी अद्भुत शक्ति कहाँ से आई कि जिस कारण तुम अपने शत्रु जैसे पानी को जो मिट्टी को गलाकर उसका रूप-स्वरूप ही बिगाड़कर रख देता है; और विभाव से युक्त वह गर्म पानी जिसको तुम धारण कर ठण्डा बनाते हो तथा सारे संसार को यह उपदेश देते हो कि सारे संसार के 'गम' अर्थात् दु:ख आत्मा के पद अर्थात् स्थान नहीं हैं अत: दु:ख को समता से सहकर गुरुओं के चरणों में जाकर मोक्षमार्ग में ढलकर आत्मा से परमात्मा बनो?

तब कुम्भ कहता है कि हे सेठ जी! मैं बहुत लम्बी यात्रा पूर्ण करके आया हूँ। अगर तुम सुनना चाहते हो तो सुनाता हूँ।

सेठ जी कहते हैं कि अवश्य सुनाओ जिससे कि मेरा जीवन कुछ नया मोड़ लेकर मुक्ति पथ की यात्रा कर सके और तुम्हारे जैसी सहनशीलता धारण कर सके।

कुम्भ कहता है कि सेठ जी एक समय वह था जब मेरा कोई मूल्य नहीं था; मैं मिट्टी रूप में नीचे पड़ा रहता था, मेरे ऊपर से लोग मुझे पैरों से कुचलते हुए निकलते थे, मेरे ऊपर मल-मूत्र का क्षेपण करते थे और क्या बताऊँकि एक बार ऐसा विकट समय आया कि कोई व्यक्ति (कुम्भकार) एक कुदाली लेकर आया और मेरे ऊपर जब कुदाली चलाई तो मेरा रोम-रोम काँप उठा, लेकिन मालूम नहीं था मुझे कि यह सौभाग्य का ही विषय था कि उसने दोनों हाथों से मुझे एक बर्तन में रखा और सिर पर धारण कर अपने घर ले चला, मेरे आनन्द का पार नहीं रहा, घर पहुँचते-पहुँचते शाम हो गई और घर पहुँचते ही मुझे जमीन पर पटक दिया, मेरे प्राण-से निकल गए और मेरे अस्तित्व को बिखेर देने वाले पानी को मेरे ऊपर डाल दिया, रात भर में मेरे शरीर का बंधन ढीला हो गया, सुबह होते ही मुझे पैरों से कुचल-कुचलकर तरल बनाया, मेरे अन्दर से कंकड़, पत्थर बाहर निकाल कर फेंके और बड़े वात्सल्य से मेरा लोंदा बनाकर मुझे चाक के बीच रखा, मानलो कि मुझे एक आसन पर ही बिठाया हो; लेकिन ज्यों ही एक डण्डा उठाया तो मेरा भय के कारण पूरा शरीर कांप उठा; लेकिन वह डण्डा; मारने के लिए नहीं उठाया था ऐसा मैंने उस डण्डे से चाक घुमाये जाने पर जाना। चाक पर घूमते-घूमते मुझे चक्कर-सा आने लगा, कुम्भकार ने फिर अपने कोमल-कोमल हाथों से मुझे छू कर एक नया आकार दिया, गोल-मटोल बनाया, अन्दर जल धारण हेतु घट का आकार दिया, फिर छाँव में सुखाया और कुछ कमी दिखते ही अन्दर

हाथ पसार के बाहर से चोटें लगाई अर्थात् ठोक-पीटकर मुझे सुन्दर बनाया फिर अच्छी धूप में सुखाकर अन्त में अबे की अग्नि में मेरी अन्तिम परीक्षा ली। वह अग्नि मेरे कण-कण में प्रवेश कर गई और मेरे अनावश्यक तत्वों को जलाकर पूर्ण शुद्ध बनाकर मुझे जल धारण के योग्य एवं गर्म व विभाव अवस्था में परिणत जल को शीतल स्वभाव में लाने के योग्य बनाया। यह सब कुम्भकार का ही उपकार है मिट्टी रूप उपादान मेरा होते हुए भी कुदाली आदिक अनेक साधनों से युक्त वह कुम्भकार हमारे रूप-स्वरूप को बनाने में प्रेरक निमित्त रहा है क्योंकि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के बिना कार्य की सिद्धि असम्भव है। इस प्रकार कुम्भ ने सेठ जी के कहे जाने पर अपनी मिट्टी से लेकर घड़े तक की यात्रा कह सुनाई।

सेठजी बोले कि हे कुम्भ! तुम्हारी यह मिट्टी से कुम्भ तक की यात्रा बड़ी श्रेष्ठ यात्रा है, लगता है कि इसमें पूरी मोक्ष की शिक्षा भरी है।

कुम्भ बोला हाँ सेठ जी! मेरी इस मिट्टी से कुम्भ रूप यात्रामय जीवन से मोक्षमार्ग की मंगलमय शुभ यात्रा का उपदेश अवश्य मिलता है, लगता है आप इसे भी सुनना चाहते हैं तो सुनिए मैं सुनाता हूँ.....

बिना किसी मूल्य के मिट्टी का नीचे पड़ा रहना; शिष्य का असंयमी अवस्था में रहने का संकेत है। कुम्भकार से मिट्टी का डरना यह शिष्य की अज्ञान अवस्था का द्योतक है। मिट्टी को उठाकर सिर पर रख लेना गुरु धर्मोपदेश के द्वारा भव्य शिष्यों को धर्म के मार्ग में प्रेरित और स्थिर करते हैं यह बतलाता है। मिट्टी में जल का मिश्रण करना शिष्य गणों से त्याग या नियम, संकल्पों से सम्बन्ध कराना सिखलाता है। मिट्टी में से कंकड़, पत्थरों को निकालकर फेंक देना शिष्य गणों को अवगुणों से दूर कर निर्दोष बनाने का उद्यम है। मिट्टी को चाक पर चढ़ाना (रखना) शिष्यों को मोक्षमार्ग पर स्थिर करने हेतु उन्हें एक योग्य अवस्था को प्राप्त कराना है। कुम्भकार द्वारा चाक पर स्थित मिट्टी को कोमल हाथों से सम्हालकर आकार देना गुरुओं के द्वारा शिष्यों को दीक्षा देकर योग्य साधक साधु बनाया जाना है। कच्चे कुम्भ को छाया में सुखाया जाना बतलाता है कि गुरु शिष्य को दीक्षा देकर बाह्य तप में तपाकर शिष्य के राग या पापकर्म रूपी जल को सुखाते हैं। घड़े को अन्दर हाथ लगाकर ऊपर से चोट मारकर सुडौल सुन्दर बनाना यह बतलाता है कि गुरु अपने शिष्य के प्रति अन्तस् में उन्नति की भावना रखते हुए

शिष्य से कोई सदोष कार्य होने पर उसे डाटते हुए प्रायश्चित्त देते हैं और उसे शुद्ध बनाते हैं। कुम्भ को धूप में सुखाया जाना हमें यह उपदेश देता है कि प्रायश्चित्त से लेकर ध्यान तक तपों में तपे बिना आत्मा केवलज्ञान से परिपूर्ण नहीं बन सकती। और अन्त में कुम्भ को अग्नि के अबे में तपाया व जलाया जाना यह बतलाता है कि आत्मा के कर्म जले बिना यह आत्मा जन्म-मरण की परम्परा से छूटकर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती। जिस आत्मा ने अपने कर्मों को जलाकर मुक्तावस्था को प्राप्त कर लिया तो समझो वह पवित्रात्मा आकुलता-व्याकुलता रूप विभाव अवस्था को प्राप्त आत्माओं को स्वभाव में लाने योग्य बन जाती है अर्थात् ऐसी शुद्ध आत्मा की शरण को प्राप्त होकर संसारी आत्माएँ स्वयमेव स्वभाव की ओर आने लग जाती हैं। इस प्रकार कुम्भ ने कहा कि हे सेठजी! यही मिट्टी से घड़े तक की यात्रा में मोक्षमार्ग की मंगलमय यात्रा की शिक्षा मिलती है जो आत्मा को मोक्ष पहुँचाकर अजर-अमर बना देती है।

सेठ जी ने कहा, धन्य है तुम्हारी साधना, धन्य है तुम्हारा जीवन, जिसने मेरे जीवन में बड़ा परिवर्तन लाया। बड़े आनन्द के साथ सेठ जी ने घड़े को उठाया और सिर पर रखकर अपने घर ले चला और घर पर पहुँचते ही विभाव में परिणत गर्म पानी को घट में भरते ही उस घट ने गर्म जल को तुरन्त ठण्डा बनाना प्रारम्भ किया, थोड़ी ही देर में ठण्डे पानी को पीकर सेठ ने बड़ी तृप्ति का अनुभव किया और सारे 'गम' जो आत्मा के स्थान नहीं है, उन्हें भूल गया। आगे हम इस घड़े को मंगल कलश बनाकर प्रभु की पूजा करेंगे और साधुओं का प्रतिग्रहण करेंगे इन अरमानों में खो गया। ये अरमान एक दिन कुम्भ की यात्रा-सम मोक्ष मार्ग की यात्रा कराकर हमें परमार्थ की साधना कराएंगे ऐसे चिन्तन में लीन हो गया।

ऐसे घड़े और मिट्‌टी का रूपक गहराई से समझने के लिए परम श्रद्धेय गुरुवर आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज द्वारा विरचित अनेकान्त से ओत-प्रोत ''मूक-माटी'' महाकाव्य कृति भव्य जनों द्वारा अवश्य पठनीय है।

उपर्युक्त दृष्टान्त तो मिट्‌टी का हुआ, लेकिन मिट्‌टी और कुम्भ मात्र नहीं, वे वृक्ष भी हमें सिखलाते हैं कि किसी के पत्थर मारे जाने पर भी फल देकर किसी का नि:स्वार्थ उपकार करना नहीं भूलना चाहिए।

वे पर्वत भी बतलाते हैं कि पानी गिरते ही वे जन उपकार हेतु जलधारा नीचे

बहा देते हैं क्योंकि अनावश्यक संग्रह वृत्ति जीवन को दूषित बना देती है।

वे नदियाँ कहती हैं कि कोई कितने भी गंदे पदार्थों का सम्पर्क कराए तो भी हमारा कर्त्तव्य तो यह है कि उसे शुद्ध बनाकर निर्मल जल उपलब्ध कराकर हम सभी को सुखी करें।

वह गाय कहती है कि स्वावलम्बी बन जंगल से कुछ खा–पीकर रक्षक के घर आकर बिना कुछ लिए मीठा–मीठा दूध देना हमारा कर्त्तव्य है। वे तोता, कोयल जैसे पक्षी भी रात्रि में न खाने, न बोलने से हमें खाने–पीने और बोलने पर संयम रखना सिखलाते हैं। इस प्रकार, लोक में रहने वाले नन्हें–नन्हें प्राणियों से भी एवं प्रकृति प्रदत्त जीवन से भी बहुमूल्य शिक्षा ग्रहण कर अपना जीवन सदाचारमय अवश्य बना सकते हैं।

सफल व सुरक्षित भविष्य

अहिंसा परम धर्म है और शाकाहार से ही जीवन चल रहा है, तो हिंसा क्यों। जीव हत्या महापाप है। बच्चे पहले माता–पिता फिर शिक्षक की देख–रेख में शिक्षा ग्रहण करते हैं। शिक्षकों को चाहिए कि केवल पैसे के लिए ही वे बच्चों में ज्ञान न बांटे, बल्कि इसे अपना कर्त्तव्य समझकर बच्चों को सुसंस्कृत और शिक्षित बनाएं। जैन धर्म जाति नहीं धर्म है इसे जो पालता है वह जैन है। शाकाहार से मनुष्य निरोग और स्वच्छ तथा स्वस्थ जीवन जीता है।

आत्म परिचय

मुक्ति की प्राप्ति हेतु प्रत्येक आत्मा को दिन–प्रतिदिन अपने परिचय के बारे में अवश्य चिंतन करना चाहिए। जिस आत्मा को अपना (अपनी आत्मा का) वास्तविक परिचय याद नहीं वह बाहरी देश, ग्राम, गृह और शरीरादिक के परिचय को जानकर भी मूढ़ात्मा की कोटी में आता है, क्योंकि उसने पुद्गल और आत्मा के भेद को नहीं पहचाना है। अतः अनादिकाल से इस जीव का संसार में ही भ्रमित होकर भ्रमण हो रहा है। अपने इस भव भ्रमण को दूर करना चाहते हैं तो आगम के इस श्लोक का नित्य चिंतन करना चाहिए; जिससे अपने परिचय के ज्ञान के साथ–साथ अपना कुमार्ग में भटकना छूटकर सच्चा मार्ग मोक्षमार्ग प्राप्त हो जाए; अपने आत्म परिचय के सम्बन्ध में कहा गया है कि –

कोहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किम् प्राप्यः किम् निमित्तकः।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चे दन्य स्थाने मतिर्भवेत्॥

–छत्र चूड़ामणि

अर्थात् मैं कौन हूँ? मुझमें कैसे गुण हैं? मैं कहाँ से आया हूँ? क्या प्राप्त करने योग्य है और मैं किस निमित्त से हूँ? (अर्थात् वह किस निमित्त से प्राप्त होगा?) यदि इस प्रकार का विचार प्रतिदिन नहीं होवे तो मनुष्यों की बुद्धि विपरीत स्थान में प्रवृत्त हो जाती है।

इन सभी उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर हम अपनी आत्मा से पूछें और अगर हमारा मन धर्मनीर से (गुरुपदेश व शास्त्र स्वाध्याय से) पवित्र निर्मल होगा तो समीचीन उत्तर हमें अवश्य मिलेगा। वह (आत्मा) अवश्य उत्तर देगी कि मैं एक आत्मा (जीव) हूँ। मैं ज्ञान, दर्शन गुण वाला हूँ। मैं चतुर्गति संसार में भटकता आ रहा हूँ। मैं जन्म, मरण, भूख, प्यास आदि के दुःखों से दूर उस मोक्ष अवस्था की प्राप्ति के लिए आया हूँ। उस मोक्ष की प्राप्ति सच्चे वीतरागी देव, शास्त्र और गुरु की साक्षी में रत्नत्रय के लाभ से मुझे शीघ्र प्राप्त हो इस निमित्त से मैं यहाँ इस अवस्था को प्राप्त हूँ। ऐसा उत्तर मिलते ही विचार आता है कि इस संसार में अरहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनवाणी का समागम बड़ी दुर्लभता से विशेष पुण्यात्माओं को ही प्राप्त होता है।

एक संसारी जीवात्मा स्वयं कृत पापोदय के कारण निगोद रूप एकेन्द्रिय जीव की अवस्था में एक श्वास में अठारह बार जन्म–मरणों के दुःखों को प्राप्त करता है, और

कुछ काल के बाद कुछ कर्म हल्का होने पर कभी कोई जीव भूमि, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति (पेड़-पौधे), इत्यादि रूप में एकेन्द्रिय अवस्था को ग्रहण करता है। तदुपरांत दुर्लभ रूप त्रस पर्याप्त में लट, शंख आदि द्वीन्द्रिय; चींटी, बिच्छू आदि त्रीन्द्रिय; भ्रमर, पतंगा आदि चतुरेन्द्रिय; छिपकली, विषमिरा आदि असंज्ञी पंचेन्द्रिय एवं सर्प, सिंह, हाथी, आदि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त करता है। तदुपरांत कुछ पुण्योदय से आत्मा को दुर्लभतम मनुष्य पर्याय का लाभ होता है जिसमें भी पुरुष पर्याय का पाना उससे भी दुर्लभ होता है, इसके बाद जहां समीचीन (सम्यग्दृष्टि)आगम अनुसार तपस्या करने वाले साधु तथा श्रावक धर्मात्मा रहते हैं ऐसे उत्तम देश की प्राप्ति और भी दुर्लभ है। तथा सत्संगति पाकर सम्यग्दर्शन अपनाना विशेष दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन के साथ अणुव्रतों को धारण करना उससे भी दुर्लभ है। इसके आगे मोक्ष के योग्य उत्तम काल चतुर्थकाल का मिलना उससे भी दुर्लभ है और चतुर्थकाल में भी केवली भगवान का समागम और भी दुर्लभ है एवं मुनिपद के साथ समवशरण दर्शन विशेष दुर्लभ है तथा स्वयं केवली बन जाना उससे बड़ा दुर्लभ है। उसी तरह लोक कल्याण कारक तीर्थंकर पद पाना महादुर्लभ है। फिर अन्त में अष्ट कर्म का नाश कर मुक्ति (मोक्ष) पद के पाने और सिद्धालय में बस जाने रूप अवसर महा-महा दुर्लभ है।

आज भी पंचमकाल में जो लोग सम्यग्दर्शन को प्राप्त करते हैं वे स्वर्गलोक में वैमानिक देवों की पर्याय को प्राप्त करते हैं अथवा जो भव्य सम्यग्दर्शन के साथ अणुव्रतों को धारण करते हैं वे अतिशय वैभवशाली ऋद्धिधारी देव होते हैं।

सम्यग्दृष्टि देवों की यह एक विशेष भक्ति होती हैं कि वे स्वर्ग में उत्पन्न होते ही अपने भव-प्रत्यय अवधिज्ञान के माध्यम से अपने पूर्व-भव के धर्म अनुष्ठान, देव, शास्त्र, गुरु, धर्म स्थान और साधर्मीजनों को स्मृत कर लेते हैं। कैसे? ऐसा पूछो तो; एक सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग में विचार करता है कि मैं अमुक क्षेत्र, अमुक देश, अमुक नगर में निवास करता था मुझे ऐसे वीतराग जिनालय का दर्शन हुआ था जहां मुझे अमुक गुरुदेव ने सच्चा मोक्षमार्ग दर्शाया था। जिस कारण मुझे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और व्रतादिक का लाभ हुआ था जिसके फलस्वरूप मुझे यह स्वर्गादिक वैभव प्राप्त हुआ है। अब मैं मोक्ष जाने के पहले-पहले तक किसी भी अवस्था में धर्म को विस्मृत नहीं करूंगा, विषय भोगों में अतिलिप्त नहीं होऊंगा, कर्मक्षय एवं पुण्यार्जन के कार्य, वीतरागियों की पूजा-सेवा करता रहूँगा। मुझे जिन गुरुओं से रत्नत्रय का लाभ हुआ था ऐसे उन गुरुओं के

प्रत्युपकार एवं वैयावृत्त करने को उत्कण्ठित होता है। अपने सहधर्मियों के समागम, पूर्व जन्म में की हुई समवशरण की भावना से समवशरण के जिनदर्शन की सहधर्मियों से वात्सल्यपूर्वक भावना प्रकट करता है। वह सम्यग्दृष्टि देव जो अनेक सेवक देवों द्वारा तरह-तरह के रत्न, महलादिक वैभव, यह सब आपके हैं! ये सब आपके हैं! ऐसा कहे जाने पर भी तथा लाखों-करोड़ों अति सुन्दर -सुन्दर अप्सराओं (देवियों) के स्वागत सत्कार के सुख को पाते हुए भी उन्हें उपेक्षित कर सपरिवार रत्नादिक से सुसज्जित मंगल पूजा द्रव्यों को लेकर मध्यलोक में स्थित साक्षात् भगवान के समवशरण की ओर गमन कर देता है। और वहाँ जाकर वे सब साक्षात् प्रभु का दर्शन, पूजन करके अपने नेत्रों को सफल बनाते हैं। भगवान के अनेक पञ्चकल्याणकों को मनाकर अतिशय पुण्य का लाभ प्राप्त करते हैं। वैभव में अधिक रचते-पचते नहीं हैं एवं सदा मनुष्य भव की और व्रती बनने की भावना भाते रहते हैं।

सम्यग्दृष्टि भव्यात्माएँ सागरों की आयु सुखपूर्वक भोगकर मनुष्य भव को प्राप्त करते हैं मनुष्य भव में संयम एवं सल्लेखना आदि धर्मानुष्ठानों को करते हुए उत्कृष्ट से दो-तीन भवों या जघन्य से सात-आठ भवों के भीतर ही शिवगति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेते हैं।

इसी तरह जो भव्यात्माएँ मुनि बन साधु चर्या का निर्दोष पालन करते हुए बारह भावनाओं (अनुप्रेक्षाओं) के चिन्तन में सदा लीन बने रहते हैं वे आज पञ्चम काल में भी पञ्चम स्वर्ग के ब्रह्म ऋषि या देव ऋषि रूप एक भवअवतारी लौकान्तिक पद धारण कर द्वादशांग के ज्ञानी बन अपूर्व सुख को प्राप्त करते हैं। वहाँ वे इन्द्रिय विषय भोगों से उदासीन, सदा धवल वस्त्रों के साथ ब्रह्मचर्य जैसे रूप में रहते हैं। तीर्थंकरों के जीवन में मात्र अभिनिष्क्रमण (दीक्षा कल्याणक) के समय नीचे आकर उन तीर्थंकरों के वैराग्य की सराहना कर ऊपर स्वर्ग में चले जाते हैं। वहाँ वे आठ सागरोपम आयु ज्ञान-चर्चा में बिताकर मनुष्य-भव पाकर मुनि बन उसी भव में मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

आयुबंध विचार

सद्गति के अभिलाषी और दुर्गति से भयभीत भव्यात्मा को नित्य ही अपने परिणाम निर्मल रखना चाहिए क्योंकि आयुकर्म का बंध किस समय हो जाए मालूम नहीं। आयुकर्म का बंध जीवन में एक ही बार होता है और हमारी आयु कितनी है यह

भी हम नहीं जानते हैं। आगमानुसार कर्म भूमि के मनुष्य और तिर्यञ्चों को आयुबंध आयुकर्म के त्रिभाग में होता है अर्थात् आयुकर्म के तीन भागों में से दो भाग बीत जाने पर तीसरे भाग के प्रथम अन्तर्मुहूर्त में वे मनुष्य एवं तिर्यंञ्च; आयुबंध के योग्य होते हैं। इस प्रकार इस जीव को आयु के आठ त्रिभागों में आयु बंध के आठ अवसर प्राप्त होते हैं। अगर प्रथम त्रिभाग में आयुबंध नहीं हो पाता तो शेष रहे त्रिभाग के तीन भागों में से दो भाग बीत जाने पर प्रथम अन्तर्मुहूर्त में आयुबंध के योग्य होता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर भागों में आयुबंध की योग्यता समझना चाहिए। अगर इन आठों ही त्रिभागों में आयुबंध नहीं हुआ तो मरण के अन्तर्मुहूर्त पहले नियम से यह जीव आयुबंध कर ही लेता है जैसा कि कहा भी गया है :-

सुरणिरया णरतिरियं छम्मासवसिट्ठगे सगाउस्स।
णरतिरिया सव्वाउं तिभाग सेसम्मि उक्कस्स॥639॥
भोगभुमा देवाउं छम्मासवसिट्ठगे य बंधंति।
इगविगला णरतिरियं ते उदुगा सत्तगातिरियं॥640॥

(गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

अर्थ - देव, नारकी भुज्यमान आयु के उत्कृष्ट रूप से छह मास अवशेष रहने पर अथवा छह मास के उत्तरोत्तर विभाग का त्रिभाग शेष रहने पर; परभविक मनुष्यायु या तिर्यंचायु को बांधते हैं अर्थात् उस काल में परभविक आयु के बंध योग्य होते हैं। भोगभूमियां भी इसी प्रकार भुज्यमान आयु के छह माह शेष रहने पर अथवा छः माह के उत्तरोत्तर त्रिभाग शेष रहने पर परभविक देवायु के बंध योग्य होते हैं। कर्म भूमि के मनुष्य या तिर्यंच भुज्यमान आयु का त्रिभाग अथवा उत्तरोत्तर त्रिभाग शेष रहने पर परभविक चारों आयु के बंध योग्य होते हैं। एक बार आयु का बंध हो जाने पर वह बदलता नहीं अर्थात् बंधी आयु का संक्रमण संभव नहीं लेकिन घटना-बढ़ना अर्थात् अपकर्षण-उत्कर्षण संभव है जैसे राजा श्रेणिक ने मिथ्यात्व कर्म के उदय में यशोधर मुनि पर उपसर्ग करते समय आयुबंध के काल के उपस्थित होने पर नरक संबंधी सप्तम पृथ्वी की 33 सागर वर्ष की आयु को बांध लिया था लेकिन फिर जैन धर्म की अटूट श्रद्धा होने पर धर्म के विशेष प्रभाव से वह आयुबंध पहले नरक का होकर 84 हजार वर्ष मात्र का रह गया लेकिन मनुष्य, देव गति आदि रूप में नहीं बदल सका। अतः हमें अपने परिणाम हमेशा धर्ममय शुभ विशुद्ध रखने की आवश्यकता है। कर्म भूमिज सभी

तिर्यंच मनुष्यों की आयु समान नहीं होती और उनके आयु कर्म का त्रिभाग कब उपस्थित होता है मालूम नहीं हो पाता। अतः जो धर्मी अपना अधिक-से-अधिक समय व्रत, संयम रूप धर्मध्यान में बिताया करते हैं वे आयुबंध के समय उत्तम गति वैमानिक देवगति को बांध लेते हैं और जो धर्म के क्षेत्र में अजाग्रत रहते हैं वे दुर्गति (नरक, तिर्यंच, कुदेवादिक) को बांध लेते हैं। जैसे फोटो खींचते समय रेडी-रेडी कहने पर तो टिप-टाप होकर तैयार रहते हैं लेकिन बटन दबाते समय गर्दन नीचे कर लेते हैं या आंख मीच लेते हैं तो फिर क्या? जब फोटो सामने आती है तब ऐसा क्यों? वैसा क्यों? जवाब-सवाल पूछने लग जाते हैं; बस उसी तरह कभी-कभी लोगों का जब बुरे भावों से अशुभ आयु का बंध हो जाता है तब दुर्गति प्राप्त कर उसे वहाँ भोगने लग जाते हैं।

षट् लेश्यायें

प्राणी के परिणाम अनेक तरह के हुआ करते हैं जो तरह-तरह के निमित्त और अपने पुरुषार्थ के माध्यम से बदलते रहते हैं। इन्हें आगमिक दृष्टि से छः लेश्या रूप में विभाजित किया गया है -

(1) कृष्ण लेश्या रूप परिणाम अर्थात् महा बुरे भाव।

(2) नील लेश्या रूप परिणाम अर्थात् बुरे भाव।

(3) कापोत लेश्या रूप परिणाम अर्थात् स्वल्प बुरे भाव।

(4) पीत लेश्या रूप परिणाम अर्थात् कुछ अच्छे भाव।

(5) पद्म लेश्या रूप परिणाम अर्थात् उत्तम भाव।

(6) शुक्ल लेश्या रूप परिणाम अर्थात् उत्तमोत्तम भाव।

लेश्या की परिभाषा लिखते हुए आचार्यों ने कहा है कि "**कषाय अनुरंजित परिणामः लेश्या**" अर्थात् कषाय से रंगे हुए परिणामों का नाम लेश्या है। जितनी-जितनी आत्मा की कषाय मन्द या हीन होती चली जाती है उतनी-उतनी आत्मा की कृष्ण लेश्या आदिक से शुक्ल लेश्या की ओर उन्नति होती चली जाती है जिसे एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं :- एक गाव में 6व्यक्ति हैं और उसी गांव में एक आम का पेड़ है। आम के फल की प्राप्ति हेतु एक व्यक्ति आम के वृक्ष को मूल से काट रहा है जिसे कृष्ण लेश्या का उदाहरण समझना चाहिए। उसी तरह दूसरा व्यक्ति आम के वृक्ष की कच्चे-पक्के आमों से भरी बड़ी डाली को काट रहा है जिसे नील लेश्या का

उदाहरण समझना चाहिए एवं तीसरा व्यक्ति कच्चे पक्के आमों की छोटी डाली को काट रहा है जिसे कापोत लेश्या का उदाहरण समझना चाहिए और चौथा व्यक्ति डाली को नहीं काट कर कच्चे, पके आमों के गुच्छे को तोड़ रहा है जिसे पीत लेश्या का उदाहरण समझना चाहिए। पांचवाँ व्यक्ति कच्चे आमों को छोड़कर मात्र पके आमों को तोड़ रहा है जिसे पद्म लेश्या का उदाहरण समझना चाहिए। छठवां व्यक्ति पककर गिरे हुए आमों को मात्र पेड़ के नीचे से ही बीन रहा है जिसे शुक्ल लेश्या का उदाहरण समझना चाहिए। पहले व्यक्ति को पेड़ के नष्ट होने से उसकी हिंसा होने तथा आगे के लोगों को फल के लाभ से वंचित होने की चिंता नहीं लेकिन आगे दूसरे आदि व्यक्ति को पेड़ और लोगों के लाभ की चिंता बढ़ती गई तथा छठवें व्यक्ति ने आम के पेड़ को तथा उससे प्राप्त आम के फलों से लाभ उठाने वाले व्यक्तियों को कुछ भी कष्ट दिए बिना ही अपना कार्य पूरा किया। यही उन्नत भावों का परिणाम है। इस प्रकार यह जीव जैसे परिणाम करता है वैसे ही कर्म बंध में बंध जाता है।

बारह दृष्टियाँ

इस जगत का स्वरूप कैसा है उसका वैसा ही (राग-द्वेष नहीं करते हुए) चिंतन करने से हमारा मन पाप में नहीं जाता और हम कर्म बंध से बच जाते हैं। इस जगत को हम 12 दृष्टियों से देख सकते हैं जो दृष्टियां आपस में एक दूसरे की पूरक हैं। इनका दूसरा नाम अनुप्रेक्षा या भावना भी है। पहली दृष्टि से देखने पर यह संसार पर्याय की अपेक्षा से क्षणभंगुर अनित्य है इसमें कोई भी वस्तुएँ शाश्वत नहीं। दूसरी दृष्टि से देखने पर इस संसार में कोई भी शरण नहीं आयु पूर्ण होने पर मृत्यु से कोई भी बचाने (रक्षा करने) वाला नहीं अत: यह संसार अशरण है। तीसरी दृष्टि से देखने पर यह जीव हमेशा अपने-अपने कर्मोदय से मनुष्य, देव, तिर्यंच और नरक रूप चतुर्गति में दु:खों का अनुभव करता हुआ संचरण करता रहता है अत: ऐसे गति भ्रमण का नाम ही संसार है। चौथी दृष्टि से देखने पर यह जीव संसार में कर्मों से रहित होकर अकेला ही भ्रमण करता है अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही सुख-दु:ख को भोगता है। ऐसे चिन्तन का नाम एकत्व भावना है। पांचवी दृष्टि से जीवात्मा और उसके साथ लगा हुआ शरीर दूध और पानी के समान लक्षण की अपेक्षा भिन्न-भिन्न स्वभाव वाला है फिर स्पष्ट रूप से दूर जो धन, गृह, परिजन आदिक हैं वे जीवात्मा के कैसे हो सकते हैं? उन्हें अपना मानना मिथ्या है। जैसे मिलाकर रखे हुए दूध पानी को हंस पक्षी

भिन्न-भिन्न कर देता है अर्थात् दूध-दूध को तो पी लेता है और जल छोड़ देता है। उसी तरह योगी लोग ध्यान के माध्यम से शरीर से आत्मा भिन्न-भिन्न कर लेते हैं। ऐसा चिन्तन करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है। छठवीं दृष्टि से देखने पर संसारी जीव का शरीर अशुचिता का गृह है इसमें रक्त, मांस, पीप, मल, मूत्रादिक भरे हुए हैं। इस शरीर से नव मल द्वार बहते रहते हैं अत: ऐसे शरीर में मोह-राग कर्म बंध का कारण है ऐसा चिन्तवन अशुचित्व भावना है। सातवीं दृष्टि से देखने पर यह संसारी जीव हमेशा शुभाशुभ कर्मों का आस्रव कर रहा है जैसे छिद्र सहित नाव पानी से भर जाती है बस उसी तरह यह जीव मिथ्यात्व, अविरति आदि के द्वारा कर्मों को संजोता रहता है। आठवीं दृष्टि से देखने पर यह जीव अपने पुरुषार्थ के बल से मिथ्यात्व अविरति आदि को छोड़कर सम्यक्त्व व संयम आदि के बल से कर्मों के द्वार को बंदकर संवर अवस्था को प्राप्त करता है। नौवीं दृष्टि से देखने पर यह जीव तपादिक अनुष्ठान के द्वारा पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा कर अग्नि से तपाये गए स्वर्ण पाषाण की तरह शुद्ध अवस्था में पहुँच जाता है। दसवीं दृष्टि से देखने पर जीव और पुद्गल जिसमें परिणमन करते हैं ऐसा लोक जो अनादिनिधन शाश्वत है वह ना किसी से बनाया गया और ना मिटाया जाता है और ना ही किसी से रक्षित या धारण ही किया गया है। ग्यारहवीं दृष्टि से विचारने पर इस लोक में तीन रत्न बड़ी दुर्लभता से प्राप्त होते हैं जो सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं ये रत्नत्रय मोक्ष के प्रदाता हैं यह बोधि दुर्लभ भावना है। बारहवीं दृष्टि से चिन्तन करने पर इस लोक में शान्ति और सुख का परम साधन धर्म है जो धर्म, अहिंसा, दया और क्षमादिक रूप है। इन बारह दृष्टियों या अनुप्रेक्षाओं से क्रमश: हम अपनी आत्मा की ओर आ जाते हैं क्योंकि अहिंसा, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि ये सब आत्मा के गुण हैं। जब हम संसार से मोह छोड़कर अपनी आत्मा रूपी दर्पण में झाँकते हैं तब हमें अपनी गुण सम्पदा का भान होता है। कभी-कभी या प्राथमिक दशा में पर वस्तु हमें अपने आत्मिक गुणों के वैभव को या सच्ची अवस्था को प्राप्त कराने में साधक हो जाती है जैसे कोई व्यक्ति एक छाता लेकर बाजार गया और एक दुकान पर छाता भूलकर आ गया लेकिन रास्ते में जब पानी के छींटे गिरने लगे और दूसरे के हाथ में छाता देखा तो उसे अपना छाता याद आ गया। उसी तरह हम अपने आत्म गुण वैभव को भूलकर जगत के जड़ वैभव में अटक-भटक गए हैं लेकिन जब हम अरहन्त या पंच परमेष्ठी के दर्शन करते हैं तब हमें अपनी गुण रूपी धर्म सम्पदा याद आ जाती है और हम पश्चाताप कर

लौकिकता से मुख मोड़ धर्म में लग जाते हैं।

वीतराग भगवान की मुद्रा एक ऐसा दर्पण है जिसमें सब प्रकार की क्षुधा, पिपासा, राग, द्वेष, काम अलंकार आदिक 18दोषों से रहित एक शुद्ध परमानंद रूप ध्यान का स्वरूप झलकता है। जिस निष्कलंक (बेदाग) वीतराग दर्पण में अपना मुख देखने से संसारी आत्माओं को मुख पर लगी कालिमा के समान अपने कृत पापों का दर्शन होने लग जाता है तथा संसारी आत्मा अपनी पाप कालिमा को धोने हेतु धार्मिक अनुष्ठानों के करने में तत्पर हो जाती है। उसे अपने पापमय जीवन पर पश्चाताप होने लगता है और अपनी वास्तविक गुण धर्म सम्पदा पर श्रद्धा पैदा हो जाती है तब सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप मोक्षमार्ग पर कदम रखते ही उस आत्मा का ''संसार वारिधिरयं चुलुक प्रमाणं'' संसार समुद्र चुल्लू मात्र शेष रह जाता है। यह वीतरागता की महिमा है।

आज इस संसार में काले धब्बे से सहित दर्पण या तरंगायित जल के समान अनेक सरागी कामवासना, अलङ्कार आडम्बर से सहित कुदेव एवं कुगुरुओं का दर्शन भी सुलभ है लेकिन जिसमें हमें अपने मुख का दर्शन नहीं हो सकता। बेदाग दर्पण या निस्तरंग जल ही हमें अपना मुख दिखा सकता है। उसी तरह पाप, काम वासनाओं अलङ्कार आडम्बर आदि से रहित वीतराग परमेष्ठी रूप दर्पण ही हमें परम पावन निर्मल बना सकता है। धन्य है ऐसे वीतरागी आत्मा की स्मृति कि जिसके दर्शन से हमें अपना पता (आत्म वैभव) स्वयमेव याद आ जाता है। किसी ने कहा भी है कि :-

नाम लेता हूँ तुम्हारा, तुम याद आते हो।
मैं वह खोई हुई चीज हूँ, जिसका पता तुम हो॥

अत: हम परम वीतरागियों, निर्ग्रन्थों की भक्ति कर अपना पता प्राप्त कर मोक्षमार्ग को अपनाकर उन्हीं पंच परमेष्ठी के ध्यान द्वारा उत्तम गति रूप पंचम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करें।

ध्यान की प्रक्रिया

मुनि आर्जवसागर

'ध्ये चिंतायाम्' धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न होता है। जो चिंतवन, मनन करने के अर्थ में है। तत्त्वार्थसूत्र में एकाग्र चिंता निरोध के सूत्र में एक का अर्थ केवल और अग्र पद का अर्थ मुख है जो एक अग्र होता है वह एकाग्र है। निरोध का अर्थ नियंत्रण या रोकना कहलाता है। अन्य पदार्थ में मुखों अर्थात् पदार्थों से हटकर या निर्वृत्त होकर एक पदार्थ में चितंवन का स्थिर रहना ध्यान कहलाता है। शुक्लध्यान रूपी उत्कृष्ट ध्यान की अपेक्षा अग्र का अर्थ प्रथम या मुख्य होता है। जिससे ध्याता को सभी पदार्थों में प्रथम अपनी आत्मा ही होती है और तत्त्वों में अग्रण्य होने से भी अग्र शब्द से आत्मा का स्मरण किया गया है। तो केवल आत्मा के ध्यान में चित्त-वृत्ति का नियंत्रण होना ध्यान है।

संसार में जीव कर्म से बध्य होकर अनादिकाल से चतुर्गति परिभ्रमण कर रहा है। वह जीव जब वीतरागी देवाधि देव अरिहन्त भगवान, निर्ग्रंथ गुरु और समीचीन शास्त्र को निमित्त बनाकर इन पर अगाढ़ भक्ति धारण कर और इनके द्वारा अपदिष्ट मार्ग पर अटूट श्रद्धा धारण कर आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहचान कर उसकी श्रद्धा करके निर्ग्रन्थ बन उसी में लीन होता है तो संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

मुक्ति के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं। जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जीव में अजीव रूप कर्म का आना आश्रव है और कर्म का जीव के साथ बँध जाना बंध है। ये आश्रव, बन्ध ही संसार का प्रधान कारण हैं और संसार के अभाव रूप मोक्ष के प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं। संवर और निर्जरा का प्रधान कारण सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं और सम्यक्चारित्र में तप भी गर्भित है और तप बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। अभ्यन्तर तप के भेदों में एक भेद ध्यान है। तत्त्वार्थ सूत्र में 'आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि' सूत्र के द्वारा ध्यान चार प्रकार का बतलाया गया है। अगले सूत्र में 'परे मोक्ष हेतु' अर्थात् बाद वाले धर्म, और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं। एतदर्थ पारिशेष न्याय से 'पूर्वे संसार हेतु' अर्थात् पूर्व कथित जो आर्त्त, रौद्र ध्यान हैं वे संसार के कारण हैं स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। इसी कथन से यह भी अर्थ

स्पष्ट होता है कि जो साक्षात् और परम्परा से मोक्ष के कारण रूप धर्म और शुक्लध्यान हैं वे शुभ रूप ध्यान हैं और संसार के कारण रूप जो आर्त्त, रौद्र ध्यान हैं वे अशुभ रूप ध्यान हैं यदि कदाचित् कोई भव्य कहे कि मुझे ध्यान का अभ्यास करना है तो संसार के प्रत्येक प्राणी को अशुभ ध्यान का अभ्यास अनादिकाल से चल ही रहा है, परन्तु शुभ ध्यानों के लिए विशिष्ट पुरुषार्थ रूप सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान, चारित्र अथवा संवर, निर्जरा के साधन रूप गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय और चारित्र की अनिवार्यता होती है।

परिग्रहवान मोही संसार के सर्व प्राणी चिंताओं में उलझे हुये हैं। जिनके हिय में आकुलता-व्याकुलता मय परिणामों से आर्त्त, रौद्र ध्यानों की निरन्तरता बनी रहती है और जब तक तत्त्व चिंतन के साथ धर्मध्यान नहीं होता तब तक चित्त वृत्ति के निरोध के साथ समीचीन अर्थात् सम्यक्ध्यान सम्भव नहीं। समाधि तन्त्र में कहा है कि-जिस ध्यानी साधक का मन रूपी जल राग-द्वेष आदि लहरों से चंचल (चलायमान) नहीं होता वही आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता है। अन्य जन उस आत्म-तत्त्व का दर्श नहीं कर सकते।

श्लोक: रागद्वेषादि कल्लोलैरलौलं यन्मनो जलं।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं, तत्तत्त्वं नेतरो जनं।। 35।।

– समाधितन्त्र

कितने ही दार्शनिक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठों को योग का अंग मानते हैं और कोई दार्शनिक यम, नियम को छोड़कर मात्र छह को योग का अंग मानते हैं। शुभचन्द्राचार्य ने कहा है कि उत्साह, निश्चय, धैर्य, संतोष, तत्त्व निर्णय और जनपद त्याग इन छः से मुनि की योगों की सिद्धि होती है। और भी कहा है कि गुरु उपदेश, उपदेश पर भक्ति, दृढ़ श्रद्धा, तत्त्व चिंतन और मन की स्थिरता ये सम्यक् ध्यान के प्रधान साधन हैं। योग के अष्ठ अंगों का समीचीन अर्थ ध्यातव्य है कि –

1. यम :- अहिंसादि व्रतों का जीवन पर्यन्त धारण करना यम है।
2. नियम :- देवपूजा आदि नियत कालिक षट् कर्म और नियत कालिक भोगोपभोग परिमाण का नियमन करना नियम है।

3. आसन :- निश्चल और दृढ़ आसन जैसे-पद्मासन, अर्ध पद्मासन, खड्गासन इत्यादिक को आसन माना जाता है। ज्ञातव्य रहे कि आसनों के साथ खड्गासन में खड़े व्यक्ति के पैरों की एड़ियों के बीच चार अंगुल का अंतर हो और दोनों अंगूठों के बीच बारह अंगुल का अन्तर हो। पद्मासन में पहले बायाँ फिर दायाँ पैर जंघा पर हाथ पर हाथ रखते हुए पहले बाँया फिर दाहिना हाथ हो। रीढ़ और मुख सीधा, दृष्टि नाशाग्र की सीध में दूर जाती हो।

4. प्राणायाम :- पूरक, कुम्भक और रेचक इनके द्वारा वायु के संचार से प्राणायाम किया जाता है। वायु का अन्दर ग्रहण पूरक है। वायु का उदर में धारण कुम्भक और बहिर्गमन रेचक कहलाता है।

5. प्रत्याहार :- भोग विषयों से चित्त का निरोध हो जाने पर इन्द्रियों को अपने वश में करके जो स्वाधीन अवस्था की प्राप्ति करना प्रत्याहार कहलाता है।

6. धारणा :- चित्त को नाभिमण्डल, हृदय कमल, ओष्ठ, नासिका, ललाट और सिर आदि में अथवा पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और तत्त्व धारणा का आलम्बन लेकर एकाग्रता में लीन होकर निराकुल अवस्था को प्राप्त करना धारणा कहलता है।

7. ध्यान :- एक ही तत्त्व में स्थिरता पूर्वक जो चिंतन किया जाता है उसका नाम ध्यान है।

8. समाधि :- जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय इन विकल्पों से रहित आत्म तल्लीनता रूप, शून्य के समान अर्थ प्रतिभास रूप अवस्था आती है उसे निर्विकल्प समाधि कहा जाता है।

जैन दर्शन में इसे निर्ग्रन्थों के जीवन में निर्विकल्प समाधि कहा जाता है। जिसे शुद्धोपयोग की उत्कृष्ट अवस्था या शुक्ल ध्यान रूप से इंगित किया जाता है।

विद्वानों ने धर्म ध्यान के पश्चात् प्राणायाम की व्याख्या करते हुए प्रथमतः यह निर्देशित किया गया है कि अपने सिद्धान्त का भले प्रकार निर्णय कर लेने वाले मुनियों ने ध्यान की सिद्धि के निमित्त मन की स्थिरता के लिए प्राणायाम की प्रशंसा की है। इसलिए बुद्धिमान भव्य जनों को उसे प्राप्त करना चाहिए क्योंकि इसके बिना मन पर

विजय प्राप्त करना शक्य नहीं है। आचार्यों ने प्रत्याहार के लिए समाधि सिद्धि हेतु नियामक रूप से प्रशंसनीय बतलाया है। ज्ञानार्णव शास्त्र में शुभचन्द्राचार्य कहते हैं कि -

निःसंगः संवृतस्वान्तः कूर्मवृत्संवृतेन्द्रियः।
यमी समत्वमापन्नो ध्यानतन्त्रे स्थिरी भवेत्।। 1457।।

अर्थात् जो मुनि परिग्रह से निर्ममत्व हो चुका है जिसका मन सावद्य प्रवृत्ति से रहित है। तथा जिसकी इन्द्रियाँ कछुए के समान संकुचित हैं स्वाधीन हो चुकी हैं वह समता भाव को प्राप्त होता हुआ ध्यान की सिद्धि में दृढ़ होता है। तदुपरान्त प्रत्याहार की महिमा प्राप्त आत्मा के लिए प्राणायाम की आवश्यकता नहीं क्योंकि प्राणायाम से अपने प्राण या शरीर बाधित होते हैं।

सम्यक् समाधि सिद्ध्यर्थं, प्रत्याहारः प्रशस्यते।
प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति।। 1459।।
पूरणे, कुम्भने चैव तथा श्ववसननिर्गमे।
व्यागीभवन्ति चेतोसि क्लिश्यमानानि वायुभिः ।। 1465।।

- ज्ञानार्णव

अर्थात् प्राणायाम को अस्वस्थ कर कष्टप्रद व मुक्ति की प्राप्ति में बाधक कहा गया है। ध्यान का अधिकारी कौन होता है? इसका वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि -

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा।। 269।।

- ज्ञानार्णव

अर्थात् यदि तू कामभोगों से विरक्त होकर शरीर के विषय में निस्पृह होता हुआ निर्ममता को प्राप्त हो चुका है तो ध्यान का अधिकारी हो सकता है अन्यथा नहीं।

सम्यक् ध्यान की प्रसिद्धि हेतु सुयोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का होना अनिवार्य है।

सुयोग्य द्रव्य :- भव्य आत्मा स्वयं ही आधार, ध्याता और साध्य रूप जीव द्रव्य कहलाता है। स्वस्थ शरीर, श्रेष्ठ संहनन, पद्मासन, सिद्धासन,

खड्गासन आदि आसन और सात्विक, शुद्ध, प्रासुक आहार ये सब अजीव द्रव्य कहलाते हैं।

सुयोग्य क्षेत्र :- आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि -

एकान्ते सामायिकं, निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषू च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया।। ९९।।

- रत्नकरण्डक

अर्थात् एकान्त क्षेत्र जो कि बाधारहित (कोलाहल, सांसारिक विषयों से रहित) वन, गृह या चैत्यालय रूप हो ऐसे क्षेत्र पर प्रसन्न चित्त के साथ सामायिक बढ़ाना चाहिए क्योंकि इसके बिना ध्यानाभ्यास का होना प्रायः असम्भव होगा। परन्तु सुदर्शन मुनीश्वरादि जैसी अभ्यस्त आत्माएँ किसी भी बाधित स्थल में भी ध्यान लीनता को प्राप्त कर सकती हैं।

सुयोग्य काल :- संध्या या सन्धिकाल जिसमें सुषुम्णा नाड़ी (सूर्य और चन्द्र दोनों स्वर रूप) चले ऐसा सुबह, मध्यान्ह और सायं काल ध्यान के लिए उपयुक्त काल समझना चाहिए। ऐसे काल में एकाग्रता व समता रूप सामायिक सहजता से वृद्धि को प्राप्त होती है।

सुयोग्य भाव :- ''समता सर्व भूतेषु, संयमे शुभ भावना।
आर्त्त, रौद्र परित्यागस् तद्धि सामायिकं मतं।।''

अर्थात् सब जीवों में राग द्वेष रहित साम्य परिणामों का होना, संयम मय अर्थात् प्राणियों की रक्षा करते हुए 25, 16 आदि सत्तर प्रकार की भावनाएँ चिन्तवन में लाना और आर्त्त तथा रौद्र ध्यानों का विसर्जन (त्याग) करना; साथ ही आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय रूप धर्म ध्यान का चिंतवन-मन्थन अपनी आत्मा में करते हुए एकाग्रता को प्राप्त कर लेना सुयोग्य भाव कहलाता है।

आत्मा में अनादि काल से विषय कषायों के पनाले बह रहे हैं जिनकी वासना से मन को स्थिर बनाना और धर्मध्यान की ओर आकृष्ट करना प्रत्येक आत्मा के वश की बात नहीं है लेकिन जो व्यक्ति वानर जैसे चंचल जीवन या मन रूपी भूत को दान, पूजादिक धार्मिक कार्यों में अनुरक्त करता है और कोई विशेष भव्य आत्मा पंचेन्द्रियों के

झरोखों से आने वाले इन्द्रिय-भोग-विषयों की वायु को रोककर कछुये के सदृश अपने इंद्रिय व्यापार को विराम देकर यम, नियम, आसन आदि के साथ सुयोग्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों के साथ ध्यान में लीन होता है तब वह निस्तरंग जल में मुख दिखने के सदृश अपनी आत्मा में अपनी आत्मा का दर्शन करने लग जाता है।

सारे जगत् में भागते मन से न तो ध्यान हो सकता है और न ही कर्म रूपी ईंधन को जलाया जा सकता है। परिग्रह के ममत्व से ध्यान की ऊर्जा बहिर्गामिनी होती है। काम वासना से ऊर्जा अधोगामिनी होती है और सम्यक् ध्यान से ऊर्जा ऊर्ध्वगामिनी होती है। जगत् की ओर भागनी वाली ऊर्जा ने आज तक हमारे अष्ट कर्मों को नहीं जला पाया जैसे कि सूर्य की किरणें सभी ओर फैल रही हों तो भारी गर्मी में भी धूप में पड़े कागज को वे नहीं जला पातीं लेकिन जब दूरबीन (लैन्स) से किरणों को केन्द्रित करके एक स्थान पर डालते हैं तो कागज जल उठता है वैसे ही सम्यक् (समीचीन) शुक्ल ध्यान से कर्मों रूपी ईंधन जल जाता है और आत्मा केवलज्ञानी परमात्मा व सिद्ध बन मोक्ष अवस्था पाकर अनन्त काल के लिए अनन्त ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न हो लोक शिखर पर विराजमान हो जाता है।

इत्यलं।